गद्य गरिमा

[माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश, द्वारा इण्टरमीडिएट कक्षाओं के लिए (कृषि वर्ग को छोड़कर) हिन्दी गद्य की पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित]
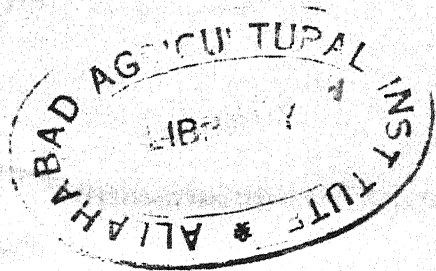
राज्य सरकार के प्राधिकार से प्रकाशित

परामर्शदाता :

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ मुंशीराम शर्मा, डॉ॰ सरयूप्रसाद अग्रवाल

सम्पादक :

डॉ विजयपाल सिंह, डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी, डॉ॰ राम प्रकाश अग्रवाल
डॉ॰ राम शकल पाण्डेय, श्री त्रिपुरारि प्रसाद त्रिपाठी,
श्री केदार नाथ मिश्र (साहित्यिक सहायक)

परिषद् सचिव :

श्री रघुनन्दन सिंह

अतिरिक्त सचिव :

श्री गोविन्द बल्लभ पंत

हिन्दी समिति :

श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित, डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,
श्री मोहनलाल कपूर, श्री बद्रीनारायण [illegible]
श्री कृष्णकुमार मिश्र ।

प्राक्कथन

हाई स्कूल एवं इण्टरमीडिएट दोनों ही स्तरों के लिए उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तकों के प्रणयन एवं प्रकाशन के लिए उत्तर प्रदेश शासन ने पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की एक क्रमिक योजना तैयार की है । इस योजना के अन्तर्गत प्रथम चरण में जुलाई १९७५ के शिक्षा-सत्र से अनिवार्य अध्ययन हेतु हिन्दी की निम्नलिखित आठ पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं—

हाई स्कूल	इण्टर
१. गद्य संकलन	५. गद्य गरिमा
२. काव्य संकलन	६. काव्याञ्जलि
३. रंग भारती	७. कथा भारती
४. संस्कृत परिचायिका	८. संस्कृत दिग्दर्शिका

ये पुस्तकें हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के परामर्श एवं प्रदेश के अनुभवी अध्यापकों, अध्यापक-प्रशिक्षकों, विश्वविद्यालय-प्राध्यापकों एवं विषय-विशेषज्ञों के संपादन के सम्मिलित प्रयास से तैयार की गयी हैं। राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यपुस्तक निर्माण से सम्बद्ध राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली के कुछ अनुभवी अधिकारियों ने भी इन पुस्तकों के सम्पादन में अपना सहयोग हमें प्रदान किया है ।

इन पुस्तकों के माध्यम से हमारा लक्ष्य राष्ट्र की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों से छात्रों को परिचित कराना तथा उनमें राष्ट्रीय आदर्शों एवं लक्ष्यों के प्रति जागरूकता पैदा करना है । समाजवाद एवं धर्म-निरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता एवं भावनात्मक सामंजस्य, दायित्व-बोध एवं अनुशासन, विश्व-बन्धुत्व एवं मानवतावाद जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा हमारे राष्ट्र की घोषित नीति है । इन पुस्तकों की अध्ययन-सामग्री भाषा-बोध के साथ-साथ इन जीवन-मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है ।

विगत दो दशकों में हमारे देश और समाज में तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत-कुछ घटित हुआ है और उसने जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया है । इस बीच सामाजिक मूल्य तेजी से बदले हैं, जिनके फलस्वरूप भाषा और साहित्य में भी तेजी से बदलाव हुआ है । अनेक अभिनव एवं विविध प्रयोगों से हिन्दी-साहित्य बड़ी तीव्र गति से समृद्ध हुआ है । इन पाठ्य-पुस्तकों में इस बदलाव और विविधता को परिलक्षित कराने का प्रयत्न किया गया

है, जिससे कि अपने युग और उसके परिवेश के इस बदलाव की जानकारी भी छात्रों को हो सके। हमारा विश्वास है कि युगबोध से सम्बद्ध होने पर ही हमारे विद्यार्थी भाषा और साहित्य को जीवित शक्ति के रूप में ग्रहण कर सकेंगे।

संक्षेप में, इन पुस्तकों के प्रणयन में हमारा प्रयास यह रहा है कि—

(१) छात्रों की ग्राहिका शक्ति की परिधि में आ सकने योग्य साहित्य के उत्कृष्ट अंश उनके अध्ययन का विषय बन सकें।

(२) पाठ्य-सामग्री रोचक, वैविध्यपूर्ण, प्रेरक, बोधगम्य एवं सुरुचिपूर्ण हो।

(३) पुस्तकें एक ओर कक्षा ८ से क्रमागत हों और दूसरी ओर विश्वविद्यालय-स्तर से भी जुड़ जाएं।

(४) हाई स्कूल अथवा इण्टर के पश्चात् शिक्षा से विरत हो जाने वाले छात्रों को भी अपने आप में पूर्ण आवश्यक पाठ्य-वस्तु मिल जाय।

(५) भूमिका, टिप्पणियों, प्रश्न-अभ्यासों के द्वारा पाठ्य-सामग्री का ऐसा अपेक्षित विश्लेषण हो जाय कि छात्र सस्ती टीकाओं की ओर न झुकें।

हम यह नहीं कह सकते कि इस प्रयास में हमें कहाँ तक सफलता मिली है; तथापि प्रयत्न यही रहा है कि सीमित अवधि में उपलब्ध साधनों का अधिकाधिक उपयोग करते हुए पुस्तक को उपयोगी एवं स्तरानुकूल बनाया जा सके। सामग्री-चयन, भूमिका, प्रश्न-अभ्यास आदि में सतत परिमार्जन अपेक्षित है। एतदर्थ प्राप्त होने वाले सुझावों के लिए मैं अनुगृहीत होऊँगा।

जिन कृती लेखकों की रचनाएँ इन संकलनों में ली गयी हैं, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। परामर्शदाताओं और सम्पादकों का मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ, जिन्होंने सीमित अवधि में अत्यन्त मनोयोग से पाण्डुलिपि तैयार की। परिषद्-सचिव श्री रघुनन्दन सिंह तथा उनके सहकर्मियों, विशेषरूप से पाठ्य पुस्तक योजना से सम्बद्ध अतिरिक्त सचिव श्री गोविन्द बल्लभ पंत तथा उनके सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। श्री पंत और उनकी पाठ्य पुस्तक इकाई के अथक परिश्रम और कर्तव्यनिष्ठा के बिना यह गुरुतर कार्य इतने अल्प समय में इस सुचारुता से पूरा नहीं हो सकता था। हिन्दी समिति के सदस्यों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होंने इन पुस्तकों के प्रणयन में अपना योगदान किया है।

डॉ० श्यामनारायण मेहरोत्रा
शिक्षा निदेशक एवं सभापति
माध्यमिक शिक्षा परिषद्
उत्तर प्रदेश

विषय-सूची

यह संकलन

प्रस्तुत गद्य-संकलन इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्रों के मानसिक स्तर को ध्यान में रखकर पाठ्य-पुस्तक के रूप में अध्ययन करने के लिए तैयार किया गया है। संकलन तैयार करते समय संपादकों के सम्मुख पहला उद्देश्य यह रहा है कि इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्र हिन्दी-गद्य के विगत सौ वर्षों के विकास से पूर्णतः परिचित हो जाँय। भारतेन्दु-युग में हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्पष्ट और स्थिर होने लगा था। द्विवेदी-युग में वह व्याकरण के नियमों से अनुशासित हुआ। उसका परिष्कार और परिमार्जन हुआ। छायावाद युग में वह अलंकृत हुआ। उसमें लाक्षणिकता का समावेश हुआ। उसकी अभिव्यंजना शक्ति बढ़ी और वह सूक्ष्म, कोमल भावनाओं तथा सुकुमार एवं रंगीन कल्पना-चित्रों को व्यक्त करने में समर्थ हुआ। प्रगतिवादी युग में ठोस सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने की प्रतिबद्धता के कारण उसमें कुछ परुषता, रुक्षता और खरापन आया और वह जीवन के बाह्य विस्तार को अभिव्यक्ति देने में समर्थ हुआ। इस युग की समाप्ति के साथ ही देश स्वतंत्र हुआ। हमारी आकांक्षाएँ बढ़ीं। हम देश-विदेश की साहित्यिक गतिविधियों से परिचित होने, आधुनिक जीवन के द्वंद्व, तनाव, संकुलता, और बुद्धिवादिता को ग्रहण करने और जीवन की दौड़ में आगे बढ़ने के लिए व्यग्र हो उठे। इस पूरे परिवेश को अभिव्यक्ति देने के प्रयत्न में हिन्दी गद्य-साहित्य में अनेक विधाओं का विकास हुआ। उसकी शब्द-सम्पदा में वृद्धि हुई। वह आधुनिक जीवन के बाह्य विस्तार को समेटने और आन्तरिक रहस्यों को व्यंजित करने में समर्थ हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के गद्य से आगे चलकर मोहन राकेश के गद्य तक की यात्रा के क्रम में इण्टर कक्षा के छात्र उपर्युक्त विकास-रेखाओं को स्वयं लक्षित कर सकेंगे।

प्रस्तुत संकलन का दूसरा उद्देश्य इण्टर कक्षा के छात्रों को हिन्दी-गद्य की सभी प्रमुख विधाओं से परिचित कराना है। इसलिए प्रस्तुत संकलन में उन विधाओं का छोड़कर जिनका अध्ययन छात्रों को स्वतंत्र रूप से कराया जायगा शेष सभी

को प्रतिनिधित्व दिया गया है। संस्मरण, शब्दचित्र, गद्यगीत, रिपोर्ताज, यात्रा-वृत्त, आदि निबंधों की परंपरा में विकसित होने वाली गद्य की अपेक्षाकृत नयी विधाएँ हैं। प्रस्तुत संकलन में महादेवी वर्मा का 'प्रणाम' संस्मरण का, रामवृक्ष बेनीपुरी का 'गेहूँ बनाम गुलाब' शब्दचित्र का, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का 'रावर्ट नर्सिंग होम में' रिपोर्ताज का, रायकृष्णदास का 'आनन्द की खोज, पागल पथिक' गद्यगीत का तथा मोहन राकेश का 'आखिरी चट्टान' यात्रावृत्त का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ समाविष्ट हैं।

निबंधों के सभी प्रकार के रूपों और शैलियों से छात्रों को परिचित कराना इस संकलन का तीसरा उद्देश्य है। इसलिए निबंधों का चयन करते समय उनके सभी रूपों को समाविष्ट करने की चेष्टा की गयी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' निबंध विचारात्मक होने के साथ ही तत्कालीन सुधारवादी चेतना को व्यक्त करने वाला है। द्विवेदीजी का 'महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन' वर्णनात्मक निबंध है। वह इस तथ्य का भी साक्षी है कि द्विवेदी-युगीन लेखक हिन्दी के अभावों को दूर करने के लिए संस्कृत से सामग्री लेने में संकोच नहीं करता था। अध्यापक पूर्णसिंह ने हिन्दी-गद्य को लाक्षणिक बनाकर उसे एक नया आयाम दिया था। उनकी शैली में भावावेग और ओजस्विता है। उनका 'आचरण की सभ्यता' निबंध भावावेगपूर्ण प्रवाहमयी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने मनोवैज्ञानिक निबंधों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्रायः सभी प्रमुख मनोविकारों का विवेचन किया है? उनका 'करुणा' शीर्षक निबंध उनकी विचारात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने प्रेरणाप्रद, उदात्त मानवीय सांस्कृतिक चेतना से युक्त आत्मव्यंजक निबंधों के लिए प्रख्यात हैं। उनका 'कुटज' निबंध उनके व्यक्तित्व और शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन हमारे देश के सबसे बड़े घुमक्कड़ थे। 'अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा' में घुमक्कड़ी के लिए आवश्यक प्रवृत्तियों और साधनों का उत्तम प्रतिपादन हुआ है। रघुवीरसिंह अपनी अतीत में रमण कराने वाली कल्पना और भावात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। इतिहास के अवशेषों के प्रति उनके मन में अपूर्व मोह है। उनका 'अवशेष' निबंध उनकी अतीतोन्मुखी प्रवृत्ति और भावात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल गंभीर विद्वान्, मान्य पुरातत्वविद् और भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ अध्येता थे। उनका 'राष्ट्र का स्वरूप' निबंध

उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। डॉ० नगेन्द्र आधुनिक युग के श्रेष्ठ आलोचक हैं। उन्होंने प्राचीन एवं नवीन साहित्य तथा पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य-शास्त्र का गहन अध्ययन करके साहित्य के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ स्थिर की हैं। 'आलोचक की आस्था' निबंध में उनकी मान्यताओं का स्पष्ट और गंभीर विवेचन किया गया है। श्री हरिशंकर परसाई हिन्दी की वर्तमान पीढ़ी के श्रेष्ठ व्यंग्यकार हैं। उनका 'निन्दा रस' निर्दोष व्यंग्य का अच्छा उदाहरण है। विद्यानिवास मिश्र संस्कृत साहित्य एवं भाषाविज्ञान के पंडित हैं। वे अपनी सांस्कृतिक एवं मांगलिक दृष्टि के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्हें अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक संपदा पर गर्व है। उनका 'हिमालय' निबंध प्रेरणाप्रद आत्मव्यंजक शैली का साक्षी है। डॉ० सम्पूर्णानन्द देश के माने-जाने विद्वान् और शिक्षाविद् रहे हैं। उनका 'शिक्षा का उद्देश्य' निबंध शिक्षा के व्यावहारिक एवं नैतिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों पर प्रकाश डालने वाला विचारात्मक शैली का श्रेष्ठ निबंध है। जैनेन्द्र कुमार गाँधीवादी विचारक हैं। वे किसी विषय को लेकर अपनी दृष्टि से विचार करते हुए उसकी तह में पहुँच जाते हैं। उनका 'भाग्य और पुरुषार्थ' निबंध उनकी मौलिक चिन्तन शैली का परिचायक है। 'अज्ञेय' बहुश्रुत और बहुपठित रचनाकार हैं। ये अमूर्त विषयों पर भी सहज ढंग से आत्मव्यंजक शैली में विचार कर सकते हैं। उनका 'सन्नाटा' निबंध उनकी बहुज्ञता तथा कलात्मक प्रतिपादन शैली का द्योतक है। बाबू श्यामसुन्दर दास हिन्दी के प्रख्यात विद्वान् और अनन्य सेवक थे। उन्होंने साहित्य के सभी पक्षों पर सुगम एवं सुबोध शैली में विचार किया है। उनका 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' निबंध उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी हिन्दीतर प्रदेश के एक कर्मठ, उत्साही एवं निष्ठावान हिन्दी-प्रेमी विद्वान् हैं। उनके 'भाषा और आधुनिकता' निबंध में आधुनिक जीवन दृष्टि का, हिन्दी भाषा पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन किया गया है। यह निबंध भाषा और गतिशील सामाजिक चेतना के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रकार प्रस्तुत संग्रह में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, आत्मव्यंजक, व्यंग्यात्मक आदि सभी शैलियों का प्रतिनिधित्व करने वाले निबंध संगृहीत हैं। निबंधों को पढ़कर छात्र इन सभी प्रकार की शैलियों से परिचित हो सकते हैं और इनके सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा बना सकते हैं।

छात्रों का मानसिक संस्कार करना, उनमें जीवन के प्रति रचनात्मक

स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण विकसित करना, मानवीय भावनाओं एवं मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करना तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता की चेतना जाग्रत करना साहित्य-शिक्षा का लक्ष्य है। इस लक्ष्य का पूर्ति संकलन का चौथा उद्देश्य है। प्रस्तुत संकलन इस लक्ष्य की पूर्ति में पूर्णतः समर्थ है। निबन्धों का चयन करते समय उनमें निहित मन्तव्यों एवं मूल्यों के प्रभाव और उपयोगिता पर भी विचार किया गया है। संकलन के सभी निबंध सुरुचिपूर्ण हैं। उनमें नैतिक एवं रचनात्मक दृष्टि को ही महत्त्व दिया गया है। वे देश की एकता के पोषक एवं व्यापक मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाले हैं।

जीवन के सभी उपादानों और तत्त्वों की भाँति भाषा एवं साहित्य भी गतिशील तत्त्व हैं। इनका स्वरूप समय एवं युग-प्रवृत्ति के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। इसलिए साहित्य के विद्यार्थी को संस्कारतः आग्रह-मुक्त होना चाहिए। न उसमें प्राचीनता के प्रति मोह होना चाहिए और न नवीनता के प्रति आग्रह। प्राचीन एवं नवीन के बीच संतुलन बनाये रखना एक विवेकशील साहित्य-अध्येता के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत संकलन में प्राचीन एवं नवीन के संतुलन पर भी ध्यान रखा गया है। संकलन को छात्रों को सौंपते हुए हम चाहेंगे कि सच्चे साहित्य-अध्येता के रूप में वे आग्रह-मुक्त होकर उसे स्वीकारें। हिन्दी भाषा और साहित्य का जो रूप आज है वह पहले नहीं था और आगे भी वह नहीं रहेगा। उसमें विकास और परिष्कार होता आया है और होता रहेगा। हर जीवित भाषा में यह विकास-प्रक्रिया चलती रहती है। इसलिए आज के मानदण्ड को आधार बनाकर भारतेन्दु कालीन भाषा एवं वर्तनी को सुधारना या बदलना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा। साथ ही भविष्य के लिए आज से ही कोई आग्रह बनाकर चलना भी अनुचित होगा। हमारा विश्वास है कि हमारे छात्र साहित्य और भाषा के प्रति संतुलित दृष्टि विकसित करने में समर्थ होंगे।

भूमिका

गद्य का स्वरूप विश्लेषण

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग गद्य के विकास, संस्कार और प्रयोग-वैविध्य का युग । इसलिए आधुनिक युग को गद्य-युग भी कहा गया है । विगत सौ वर्षों में हिन्दी-गद्य की जो प्रगति हुई है वह चकित कर देने वाली है। हिन्दी-गद्य के इस अपूर्व विकास से परिचित होने के पूर्व आवश्यक है कि हम गद्य एवं पद्य की सापेक्षिक स्थिति को भलीभाँति पहचान कर गद्य के स्वरूप और उसकी पारिभाषिक सीमा के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा बना लें ।

साहित्य के दो शैली-भेद सामान्यतः सर्वविदित हैं—गद्य और पद्य । गद्य वाक्यबद्ध विचारात्मक रचना होती है और पद्य छन्दोबद्ध या लयबद्ध भावात्मक रचना । इस प्रकार सामान्यतः विचारात्मकता और भावात्मकता इन दोनों साहित्य-प्रकारों के भेदक तत्त्व माने जा सकते हैं । इसका यह आशय नहीं कि गद्य भावात्मक और पद्य विचारात्मक नहीं हो सकता, या नहीं होना चाहिए । इसका आशय इतना ही है कि गद्य में हमारी बौद्धिक चेष्टाएँ और चिन्तनशील मनःस्थितियाँ अपेक्षाकृत सुगमता से व्यक्त हो सकती हैं जब कि पद्य में भावपूर्ण मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति सहज होती है । पद्य में संवेदना और कल्पना की प्रमुखता होती है और गद्य में विवेक एवं तर्क की । इसलिए पद्य को 'हृदय की भाषा' कहा जा सकता है और गद्य को 'मस्तिष्क की भाषा' । दोनों का अन्तर समझने के लिए यह स्थूल आधार बनाना आवश्यक है, पर इसे पूर्ण, व्यापक और अपवादरहित नहीं मान सकते । उदाहरण के लिए कहानी, संस्मरण, ललित निबंध और विशेषतः नाटक अत्यन्त भावात्मक भी हो सकते हैं, फिर भी वे गद्य की कोटि में ही रखे जाते हैं । अतः भावात्मकता और विचारात्मकता का उपर्युक्त आधार गद्य और पद्य का मात्र सामान्य अंतर समझने के लिए है ।

गद्य-लेखक व्याकरण की अवहेलना नहीं कर सकता, जब कि पद्य-लेखक

व्याकरण में बँधकर नहीं चल सकता। पद्य-लेखक छन्द और लय से अनुशासित होता है और गद्य-लेखक वाक्य-विन्यास में पदों की योजना करते समय व्याकरण द्वारा उनके निर्दिष्ट-स्थान को महत्त्व देने के लिए विवश होता है। गद्यकार को सहारा देते हैं विराम चिह्न, और पद्य-लेखक को यति, गति, लय। गद्य में शब्दों का स्थान पूर्णतः निश्चित होता है। वे मनमाने स्थान पर नहीं रखे जा सकते हैं। पद्य में वे जहाँ चाहें बैठ सकते हैं। इसलिए पद्य का अन्वय करना पड़ता है, गद्य का कोई अन्वय नहीं करना पड़ता। इस प्रकार गद्य में भाषा का एक व्यवस्थित और अनुशासित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। गद्य में अधिकांशतः निश्चित अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होता है, जब कि उत्तम कविता में सांकेतिक और व्यंजक शब्दों का प्राधान्य रहता है।

गद्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस शब्द की व्युत्पत्ति करके भी देख सकते हैं। यह शब्द 'गद्' धातु के साथ 'यत्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है। 'गद्' का अर्थ होता है 'बोलना', 'बतलाना' या 'कहना'। दैनिक जीवन की सामान्य बोलचाल की शैली में गद्य का ही प्रयोग होता है। पद्य में कोई बोलता या बात-चीत नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि गद्य का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से अधिक है। व्यावहारिक जीवन में हम बुद्धि से ही अधिक काम लेते हैं। बुद्धि का सम्बन्ध विचारों से होता है। इस प्रकार विचारों के प्रकाशन के लिए गद्य का माध्यम उपयुक्त होता है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि व्यावहारिकता, बौद्धिकता और वैचारिकता को गद्य के स्वरूप का निर्धारक मान लेने पर हम शुद्ध साहित्य की सीमा से बाहर विज्ञान और मानविकी के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं, क्योंकि ये विषय तथ्यपरक और वैचारिक होते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है कि गद्य वैज्ञानिक विषयों के लिए ही उपयुक्त होता है। ललित साहित्य के लिए उसका प्रयोग अनुचित है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। ललित साहित्य गद्य में भी सशक्त और प्रभावपूर्ण ढंग से लिखा जाता है। यहाँ जो कुछ कहा गया है सापेक्षिक दृष्टि से कहा गया है। पद्य का सम्बन्ध अनुभूति से अपेक्षाकृत अधिक है, गद्य का कम। इसीलिए अन्वेषण, परीक्षण और तत्त्व-चिंतन से प्राप्त निष्कर्ष गद्य में ही व्यक्त होते हैं। अनुभव एवं संवेदना से प्राप्त मार्मिक तत्त्व पद्य और गद्य दोनों में व्यक्त हो सकते हैं किन्तु पद्य से अनुभूति का सहज सम्बन्ध होने के कारण वहाँ वे चित्रित और बिम्बित होते हैं और गद्य में वर्णित, सूचित या कथित होते हैं। इसीलिए जब

गद्य की भाषा बिम्ब-विधायिनी हो जाती है तो वह लालित्यपूर्ण होकर पद्य के निकट आ जाती है और पद्य की भाषा जब तथ्यपरक और वर्णनात्मक होती है तब वह गद्य की प्रकृति के निकट आ जाती है। इस विवेचन से सिद्ध है कि भावतत्त्व, गद्य और पद्य दोनों के लिए अपेक्षित है। अन्तर इतना ही है कि पद्य में उसका आधिक्य और प्राधान्य होता है, जबकि गद्य में वह विचारतत्त्व के साथ संतुलित होता है। अतः भावतत्त्व और विचारतत्त्व का संतुलन उत्तम गद्य की कसौटी ठहरता है। उत्तम गद्य की आन्तरिक पहचान हुई : भावतत्त्व और विचारतत्त्व का संतुलन। गद्य की विभिन्न विधाओं में इस संतुलन का स्वरूप भिन्न हो जाता है; अर्थात् कहीं विचार का पलड़ा भारी हो जाता है तो कहीं भाव का।

उत्तम गद्य की इस आन्तरिक पहचान के अनन्तर, अब उनकी बाहरी पहिचान पर भी विचार करना आवश्यक है। प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि "गद्य वाक्यबद्ध विचारात्मक रचना होती है।" इसी में उसकी बाहरी पहिचान बतला दी गयी है अर्थात् 'वाक्यबद्धता'। आशय यह है कि विषय और परिस्थिति के अनुरूप शब्दों का सही स्थान-निर्धारण तथा वाक्यों की उचित योजना ही उत्तम गद्य की कसौटी है। प्रयोग और प्रयोजन की दृष्टि से गद्य की भाषा के तीन प्रकार बताये जा सकते हैं—दैनिक व्यवहार की भाषा, शास्त्रीय विवेचन की तर्कपूर्ण भाषा और साहित्यिक ललित भाषा। इनके अतिरिक्त लेखक के व्यक्तित्व एवं मनःस्थिति और विषय के स्तर के आधार पर भी गद्य की विभिन्न शैलियाँ जन्म लेती हैं, यथा—समास, व्यास, धारा, विक्षेप, तरंग आदि शैलियाँ। गद्य की विभिन्न विधाओं के लिए एक ही शैली काम नहीं दे सकती। इनमें शब्दों के चयन, मुहावरों, सूक्तियों और सूत्रों आदि के विविध प्रयोग, वाक्यों के दीर्घ और लघु विन्यास तथा उद्देश्य और विधेय के क्रम-परिवर्तन द्वारा, गद्य-विधान के अनेक रूप संघटित किये जा सकते हैं। विभिन्न गद्य-विधाओं—निबंध, नाटक, कहानी, संस्मरण, एकांकी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रावृत्त, जीवनी, डायरी, पत्र, भेंट-वार्ता आदि—में गद्यशैली के प्रयोग-वैविध्य को देखकर आश्चर्य होता है। वस्तुतः आज गद्य-साहित्य जीवन की प्रत्येक स्थिति और गति को व्यक्त करने में समर्थ है। इसलिए उसके शैलीगत भेद पद्य-शैली के भेदों-प्रभेदों से भी अधिक हो गये हैं। इसलिए हिन्दी-गद्य के समग्र रूप एवं संपूर्ण शक्ति के विकासात्मक परिचय के लिए उसके क्रमबद्ध इतिहास का अध्ययन आवश्यक है।

हिन्दी-गद्य और उसकी विधाओं का विकास

हिन्दी की व्याख्या

हिन्दी शब्द का प्रयोग मुख्यतः तीन अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में हिन्दी आठ बोलियों (ब्रज, खड़ीबोली, बुन्देली, हरियाणी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) और तीन उपभाषाओं (राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी) के संपूर्ण साहित्य का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी के अन्तर्गत उपर्युक्त आठ बोलियों को ही परिगणित किया जाता है। सीमित अर्थ में हिन्दी से दिल्ली-मेरठ के आसपास बोली जाने वाली खड़ीबोली के परिनिष्ठित एवं साहित्यिक रूप का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। जो हिन्दी आज पूरे भारतवर्ष की राजभाषा के रूप में मान्य है और हिन्दी प्रदेश के विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम है वह खड़ीबोली का ही परिनिष्ठित रूप है।

हिन्दी-गद्य के प्राचीन रूप

आज हिन्दी-गद्य से खड़ीबोली के साहित्यिक एवं परिनिष्ठित गद्य का ही अर्थ लिया जाता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उसका विकास अपेक्षाकृत बाद की घटना है। काल-क्रम से राजस्थानी गद्य और ब्रजभाषा गद्य इन दोनों का उद्भव खड़ीबोली गद्य से पहले हुआ था। **राजस्थानी गद्य** तेरहवीं शताब्दी ई० से प्राप्त होता है। इसमें ललित और उपयोगी दोनों प्रकार का साहित्य मिलता है। आरम्भिक राजस्थानी गद्य का सम्बन्ध जैन धर्म से है। उसमें जैन धर्म के उपदेश और सिद्धान्त लिखे गये हैं। परवर्ती राजस्थानी गद्य में 'चरित्र', 'वचनिका', 'कथा', 'बात', 'ख्यात', 'पत्र', 'वंशावली' आदि अधिक मिलते हैं। भक्ति और रीतिकाल में राजस्थानी गद्य का पर्याप्त प्रचार रहा है। **ब्रजभाषा गद्य** में सर्व प्रथम गोरखपंथी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। भाषा प्रयोग की दृष्टि से ये रचनाएँ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी ई० की न होकर सत्रहवीं शताब्दी की जान पड़ती हैं। ब्रजभाषा गद्य के प्राचीनतम नमूने सन् १५१३ के पूर्व के नहीं हैं। ब्रजभाषा गद्य 'मौलिक', 'अनूदित', 'टीकात्मक', 'पद्य-प्रधान' आदि कई रूपों में प्राप्त होता है। इसमें वैष्णव भक्ति-साहित्य और रीतिकालीन साहित्यिक रचनाओं की टीकाएँ प्राप्त हैं। **खड़ीबोली गद्य** की प्रामाणिक रचनाएँ सत्रहवीं शताब्दी ई० से प्राप्त होती हैं। इस संदर्भ में सन् १६२३ में लिखित जटमल कृत 'गोरा बादल की कथा' उल्लेख्य है। आरम्भिक खड़ीबोली गद्य ब्रजभाषा से प्रभावित है। 'खड़ीबोली' नाम पड़ने का कारण संभवतः इसका 'खरा' होना है। कुछ लोग मधुर ब्रजभाषा की तुलना

में इसके कर्कश होने के कारण इसे 'खड़ीबोली' कहना उपयुक्त समझते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मेरठ के आसपास की पड़ी बोली को खड़ी बनाकर लश्करों में प्रयोग किया गया इसलिए इसे 'खड़ीबोली' कहते हैं। ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त खड़ीबोली गद्य का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जा सकता है। 'खड़ाबोली' गद्य का एक रूप 'दक्खिनी गद्य' का है। मुहम्मद तुगलक के जमाने में अच्छी संख्या में उत्तर के मुसलमान दक्षिण में जाकर बस गये थे। इनके साथ इनकी भाषा भी दक्षिण पहुँची और वहाँ 'दक्खिनी हिन्दी' का विकास हुआ। दक्खिनी हिन्दी में गद्य और पद्य दोनों ही लिखे गये हैं। दक्खिनी खड़ीबोली गद्य का प्रामाणिक रूप सन् १५८० से प्राप्त है। इसमें प्रायः सूफी धर्म के सिद्धान्त लिखे गये हैं।

खड़ीबोली गद्य का विकास

खड़ीबोली गद्य के प्रारम्भिक उन्नायकों में विशेषरूप से चार लेखकों का उल्लेख किया जाता है। मुंशी सदासुख लाल (राय) (सन् १७४६-१८२४), मुंशी इंशा अल्ला खाँ (सन् १८१८), सदल मिश्र (सन् १७६८-१८४८) पंडित लल्लू लाल। इन लेखकों से कुछ पहले पटियाला दरबार के रामप्रसाद निरंजनी और मध्य प्रदेश के पं० दौलतराम ने साधु आर व्यवस्थित खड़ीबोली का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया था। रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योग वाशिष्ठ' की भाषा अधिक परिष्कृत है। मुंशी सदासुख लाल (राय) दिल्ली के रहने वाले थे। इन्होंने विष्णुपुराण का एक अंश लेकर उसे खड़ीबोली गद्य में प्रस्तुत किया। धार्मिक ग्रंथ होने के कारण इसमें पंडिताऊपन अधिक है। वाक्य रचना पर फारसी शैली का प्रभाव है। मुंशी इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है। इनकी शैली हास्य-प्रधान और चटपटी है। तुकान्त वाक्यों का प्रयोग अधिक है। मुंशी जी लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ के दरबार में रहते थे। इसलिए उनकी शैली में तड़क-भड़क, शोखी और रंगीनी अधिक है। सदल मिश्र जिला आरा (बिहार) के निवासी थे। यह कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी के शिक्षक के रूप में कार्य करते थे। 'नासिकेतोपाख्यान' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसमें पूर्वीपन अधिक है और वाक्यरचना शिथिल है। पंडित लल्लूलाल आगरा के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। यह भी फोर्ट विलियम कालेज में नियुक्त थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। इसका गद्य ब्रजभाषा प्रभाव से मुक्त नहीं है। कहीं-कहीं तुक-मैत्री का मोह खटकता है। भाषा परिमार्जित

नहीं है। जिस समय ये लेखक हिन्दी खड़ीबोली गद्य में कहानी और आख्यान लिख रहे थे उसी समय ईसाई मिशनरी भी ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए बाइबिल का हिन्दी खड़ीबोली गद्य में अनुवाद कराकर उसका प्रचार कर रहे थे। जनता के जीवन में घुलमिल कर उसे अपने अनुकूल बनाने के प्रयत्न में इन लोगों ने हिन्दी भाषा की सेवा की और हिन्दी गद्य के विकास में विशेष योग दिया। सामान्यतः ईसाई मिशनरियों की भाषा भी अपरिमार्जित और ऊबड़-खाबड़ है। तात्पर्य यह कि अठारहवीं शताब्दी ई० के अंतिम चरण और उन्नीसवीं शताब्दी ई० के प्रथम चरण में खड़ीबोली गद्य के किसी भी लेखक की भाषा पूर्णतः परिमार्जित नहीं है। इन लेखकों का खड़ीबोली गद्य के विकास-क्रम में ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

भारतीय जागरण

उन्नीसवीं शताब्दी ई० के द्वितीय एवं तृतीय चरण में हमारे देश के सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। शिक्षा का पश्चिमीकरण हुआ। यातायात के साधनों में वृद्धि हुई। सामन्तवादी शासन-व्यवस्था का अन्त हुआ। अंग्रेजों की नौकरशाही पर आधृत नवीन शासन-व्यवस्था ने अराजकता की स्थिति को दूर कर देश में शान्ति स्थापित की। 'प्रेसों' की स्थापना के साथ अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से नवीन चेतना की लहर दौड़ गयी और अनेक सामाजिक, धार्मिक आन्दोलनों ने देश के जन-मानस को मथकर उसे आधुनिक विचारधाराओं को ग्रहण करने की स्थिति में ला दिया। इस नवीन चेतना के अभ्युदय को भारतीय जागरण (रेनेसाँ) की संज्ञा दी गयी है। इस जागरण को देशव्यापी रूप देने और इसकी गति को तीव्र करने में 'ब्रह्म समाज' (सन् १८२८), 'रामकृष्ण मिशन', 'प्रार्थना समाज' (सन् १८६७), 'आर्य समाज' (सन् १८६७) और 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' (सन् १८८२) जैसी संस्थाओं का विशेष योगदान माना जाता है। उत्तर भारत में इस नये जागरण का आरंभ बंग प्रदेश से हुआ। यहीं से समाचार-पत्रों के प्रकाशन की शुरुआत भी हुई। यह प्रदेश ब्रजभाषा केन्द्र से बहुत दूर पड़ता था। इसलिए नवीन चेतना को व्यक्त करने का दायित्व खड़ीबोली गद्य को ही वहन करना पड़ा। यह स्मरणीय है कि इस समय तक उत्तर भारत में पंजाब से लेकर बंग प्रदेश तक खड़ीबोली गद्य का प्रसार हो चुका था।

भारतेन्दु का उदय

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी साहित्य का आकाश भारतेन्दु (सन् १८५०-१८८५) के पूर्ण प्रकाश से जगमगा उठा। उनसे कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी खड़ीबोली गद्य के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गद्य की दो भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। एक थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद (सन् १८२३-१८९५) और दूसरे थे राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-१८९६) राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी को पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम में स्थान दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। वे हिन्दी का प्रचार तो चाहते थे किन्तु उसे अधिक नफ़ीस बनाकर उर्दू जैसा रूप प्रदान करने के पक्ष में थे। दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह संस्कृत-निष्ठ हिन्दी के पक्षपाती थे। भारतेन्दु ने इन दोनों सीमान्तों के बीच का मार्ग ग्रहण किया। उन्होंने हिन्दी गद्य को वह रूप प्रदान किया जो हिन्दी-प्रदेश की जनता की मनोभावना के अनुकूल था। उनका गद्य व्यावहारिक, सजीव और प्रवाहपूर्ण है। उन्होंने यथासंभव लोक-प्रचलित शब्दावली का प्रयोग किया है। उनके वाक्य छोटे-छोटे और व्यंजक हैं। कहावतों, लोकोक्तियों और मुहावरों के यथोचित प्रयोग से उनकी भाषा प्राणवान और स्वाभाविक बन गयी है। यह होने पर भी भारतेन्दु का गद्य पूर्ण परिमार्जित नहीं है। उनका गद्य भी ब्रजभाषा के प्रयोगों से प्रभावित है और कहीं कहीं व्याकरण की त्रुटियाँ खटकती हैं।

भारतेन्दु के सहयोगी

भारतेन्दु का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। वे सुलझे हुए व्यक्ति थे। लोक की गति को पहचानते थे। जनता की भावनाओं को समझते थे और देश एवं जाति की उन्नति के लिए सर्वस्व अर्पित करने के लिए तत्पर रहते थे। उनके समकालीन लेखक उन्हें अपना आदर्श मानते थे। बालकृष्ण भट्ट (सन् १८४४-१९१४), पं० प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८५६-१८९४), राधाचरण गोस्वामी (सन् १८५९-१९२५), बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सन् १८५५-१९२३), ठाकुर जगमोहन सिंह (सन् १८५७-१८९९), राधाकृष्ण दास (सन् १८६५-१९०७), किशोरीलाल गोस्वामी (सन् १८६५-१९३२) आदि गद्य लेखक उनसे प्रेरित और प्रभावित थे। इन सभी लेखकों ने हिन्दी गद्य के विकास में पूरा-पूरा सहयोग दिया। ये सभी गद्य लेखक पत्रकार भी थे। इनका उद्देश्य उद्बोधन, आह्वान, व्याख्या, टिप्पणी आदि के द्वारा जनता को शिक्षित और प्रबुद्ध

करना था। पं० बालकृष्ण भट्ट इलाहाबाद से 'हिन्दी प्रदाप' नामक मासिक पत्र निकालते थे। इस पत्र में उनके निबंध प्रकाशित होते थे। भट्ट जी संस्कृत के पंडित और अंग्रेजी के जानकार थे। उनकी भाषा-नीति उदार थी। आवश्यकतानुसार उन्होंने अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत एवं लोकभाषा सभी से शब्द लिये हैं। उनका व्यक्तित्व खरा था। इसलिए उनकी शैली में भी मृदुता के स्थान पर खरापन है। प्रतापनारायण मिश्र कानपुर से 'ब्राह्मण' पत्र निकालते थे। वे मनमौजी व्यक्ति थे। उनकी शैली में उनका फक्कड़पन स्पष्ट है। उनकी भाषा पर बैसवाड़ी बोली का विशेष प्रभाव है। उनकी भाषा में ठेठ ग्रामीण प्रयोग अधिक मिलते हैं। बद्रीनारायण चौधरा 'प्रेमघन' 'आनंदकादम्बिनी' का संपादन करते थे। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और शैली काव्यात्मक एवं अलंकृत है। उनके वाक्य लंबे और समास-बहुल हैं। भारतेन्दु के अन्य सहयोगियों ने भाषा एवं शैली के सम्बन्ध में इन्हीं लेखकों का आदर्श सामने रखा। भारतेन्दु-युग में हिन्दी गद्य का स्वरूप बहुत कुछ स्थिर हुआ। उसका व्यापक प्रसार हुआ। उसमें साहित्य के अनेक रूपों का सृजन आरम्भ हुआ किन्तु अभी उसके परिष्कार और परिमार्जन की आवश्यकता बनी हुई थी। यह कार्य आगे चलकर द्विवेदी-युग में पूरा हुआ।

द्विवेदी-युगान गद्य

सन् १९०० तक भारतेन्दु-युग की समाप्ति मानी जाती है। सन् १९०० से १९२२ तक अर्थात् बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण को हिन्दी साहित्य में द्विवेदी-युग माना जाता है। इस युग को जागरण-सुधार काल भी कहा गया है। हिन्दी गद्य-साहित्य के इतिहास में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १८६४-१९३८) का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। द्विवेदीजी रेलवे के एक साधारण कर्मचारी थे। उन्होंने स्वेच्छा से हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी और बंगला भाषाओं का अध्ययन किया था। सन् १९०३ में आपने रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन आरंभ किया। 'सरस्वती' के माध्यम से आपने हिन्दी-साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की। द्विवेदीजी ने व्याकरण-निष्ठ, संयमित, सरल, स्पष्ट और विचारपूर्ण गद्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भाषा के प्रयोगों में एकरूपता लाने और उसे व्याकरण के अनुशासन में लाकर व्यवस्थित करने में द्विवेदीजी ने स्तुत्य प्रयास किया। इसी समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त उर्दू से हिंन्दी में आये। उन्होंने हिन्दा-गद्य को मुहावरेदार, सजाव

और परिष्कृत करने में पूरा-पूरा योग दिया। 'अनस्थिरता' शब्द के प्रयोग को लेकर द्विवेदीजी से उनका विवाद प्रसिद्ध है। इस युग में द्विवेदीजी के अतिरिक्त माधव मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, सरदार पूर्णसिंह, बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि लेखकों ने हिन्दी-गद्य के विकास में योग दिया। इस युग में गद्य-साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास हुआ और गंभीर निबंध, विवेचनापूर्ण आलोचनाएँ तथा मौलिक कहानियाँ, उपन्यास और नाटक लिखे गये। इस युग में काशी में बाबू श्यामसुन्दरदास ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की और हिन्दी के उपयोगी एवं गंभीर साहित्य के निर्माण की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया। 'सरस्वती' के अतिरिक्त 'इन्दु', 'सुदर्शन', 'समालोचक', 'प्रभा', 'मर्यादा', 'माधुरी' आदि पत्रिकाएँ इसी युग में प्रकाशित हुईं। द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाबराय ने चिन्तनप्रधान गद्य के विकास में उल्लेखनीय कार्य किया। द्विवेदी-युग में गद्य-शैली के अनेक रूप सामने आये। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की साफ-सुथरी, संयमित, परिमार्जित, प्रसन्न शैली, बाबू श्यामसुन्दरदास का औदात्यपूर्ण व्यास शैली, गोविन्दनारायण मिश्र की तत्सम-प्रधान, समास-बहुल, पांडित्यपूर्ण शैली, बालमुकुन्दगुप्त की ओजस्वी, प्रवाहपूर्ण, तीखी, व्यंग्य शैली, मिश्रबन्धुओं की सूचना-प्रधान, तथ्यान्वेषिणी शैली, पद्मसिंह शर्मा की प्रशंसात्मक शैली, सरदार पूर्णसिंह की लाक्षणिक एवं आवेगशील शैली, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की पांडित्यपूर्ण, व्यंग्यमयी शैली, गणेशशंकर विद्यार्थी की मर्मस्पर्शी, ओजस्वितापूर्ण, मूर्तविधायिनी शैली, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की सुबोध और रमणीय गद्य शैली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्तन-प्रधान, आत्मविश्वास मंडित, तत्त्वान्वेषिणी, समास शैली और बाबू गुलाबराय की सहज हास्यपूर्ण तथा विषयानुसार विचार-प्रधान एवं संयमित शैली के वैविध्यपूर्ण विधान से द्विवेदी-युगीन गद्य-साहित्य अद्भुत गरिमा से मंडित हो गया है।

छायावाद-युगीन गद्य

सन् 1919 में गाँधी का असहयोग आन्दोलन असफल हुआ। पंजाब के जलियानवाला पार्क में निहत्थी और असहाय जनता को गोलियों से भून दिया गया। भगतसिंह को फाँसी दी गयी। इन घटनाओं ने राष्ट्रीय चेतना को और दृढ़ किया। युवकों का कल्पनाशील मानस कुछ कर गुजरने के लिए तड़पने लगा। पराधीनता और विवशता की अनुभूति से यदि कभी वेदना और पीड़ा के गीत गाये गये तो

दूसरे ही क्षण स्वाधीनता के लिए सतत संघर्ष की बलवती प्रेरणा ने उत्साह, स्फूर्ति और आत्मविश्वास की भावना को मुखरित किया। द्विवेदी-युग सब मिलाकर नैतिक-मूल्यों के आग्रह का युग था। इसलिए नवीन भावनाओं से प्रेरित युवालेखक इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भाव-तरल, कल्पना-प्रधान एवं स्वच्छन्द चेतना से युक्त साहित्य रचने में प्रवृत्त हुए। यह प्रवृत्ति कविता और गद्य दोनों ही क्षेत्रों में लक्षित होती है। सन् १९१९ से १९३८ तक के काल-खंड को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में छायावाद-युग नाम दिया गया है। इस युग की सीमा में रचित गद्य अधिक कलात्मक हो गया है। उसकी अभिव्यंजना-शक्ति विकसित हुई है। वह चित्रण-प्रधान, लाक्षणिक, अलंकृत और कवित्वपूर्ण हो गया है। उसमें अनुभूति की सघनता और भावों की तरलता है। उसकी प्रकृति अन्तर्मुखी हो गयी है। रायकृष्णदास, वियोगीहरि, महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिंह, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, 'पंत', 'निराला', नन्ददुलारे बाजपेयी, बेचनशर्मा 'उग्र', शिवपूजनसहाय आदि गद्य-लेखकों ने छायावादयुगीन गद्य-साहित्य को समृद्ध किया है। द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध में जो लेखक सामने आये थे वे छायावाद-युग में भी लिखते रहे और उनकी प्रौढ़तम रचनाएँ इसी युग में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी प्रमुख हैं। इनकी साहित्य-चेतना का मूल स्वर द्विवेदी-युगीन ही है किन्तु छायावाद-युग के अतीत प्रेम, सहज रहस्यमयता और लाक्षणिकता के महत्त्व को इन लेखकों ने भी स्वीकार किया है। उपर्युक्त लेखकों में रायकृष्णदास और वियोगीहरि अपने भावपूर्ण प्रतीकात्मक गद्यगीतों के लिए, महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिंह अपनी अतीतोन्मुखी, भावतरल, रहस्यात्मक कल्पना के लिए, माखनलाल चतुर्वेदी अपनी प्रखर राष्ट्रीयता एवं स्वच्छन्द आलंकारिक-शैली के लिए, जयशंकर प्रसाद अपने मर्मस्पर्शी कल्पनाचित्र के लिए, 'पंत' अपनी सुकुमार कल्पना और नादसौंदर्य-प्रधान गद्य के लिए, 'निराला' अपनी अद्भुत व्यंग्यात्मकता और सहानुभूतिप्रवण रेखांकन क्षमता के लिए, महादेवी वर्मा अपनी करुण संवेदना एवं मर्मस्पर्शी चित्र-विधान के लिए, नन्ददुलारे बाजपेयी अपने गंभीर अध्ययन और स्वतंत्र चिन्तन के लिए, बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी तीखी प्रतिक्रिया तथा आवेगपूर्ण नाटकीय शैली के लिए तथा शिवपूजनसहाय अपनी ग्रामीण सरलता के लिए स्मरणीय हैं।

छायावादोत्तर गद्य

सन् १९३६ के बाद देश की स्थिति में तेजी से परिवर्तन आरम्भ हुआ। सन् १९३७ में कांग्रेस ने पूरे देश में अपने व्यापक प्रभाव का परिचय देते हुए छः प्रान्तों में अपना मंत्रिमंडल बना लिया। एक बार ऐसा लगा कि हम स्वतंत्रता के द्वार पर खड़े हैं। किन्तु शीघ्र ही निराश होना पड़ा। सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो गया। कांग्रेस ने इंगलैण्ड को युद्ध में सहायता देना इस शर्त पर स्वीकार किया कि वह शीघ्र भारत में एक स्वतंत्र जनवादी सरकार की स्थापना करे। ब्रिटिश सरकार की ओर से कोई संतोषजनक प्रतिक्रिया न होने पर सन् १९३९ में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। सन् १९४० में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता की माँग की और इसकी प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया। सन् १९४२ में 'क्रिप्स-मिशन' भारत आया और अपने उद्देश्य में असफल रहा। इसी वर्ष कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। देश में उग्र आन्दोलन हुआ और ब्रिटिश सरकार ने उसका पूरी शक्ति से दमन किया। सन् १९४५ में महायुद्ध समाप्त हुआ। सन् १९४७ में भारत में विदेशी सत्ता का अंत हुआ किन्तु इसके साथ ही देश का विभाजन भी हो गया। विभाजन के परिणामस्वरूप भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और देश की जनता तबाह हुई। इन घटनाओं ने हिन्दी-साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया। सन् १९३६ के बाद से ही हम कल्पना के लोक से उतर कर ठोस जमीन पर आने की चेष्टा करने लगे थे। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लेखकों ने प्रगतिवादी साहित्य-सृजन के प्रति प्रतिबद्धता दिखायी थी।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना से प्रेरित लेखकों ने भी क्रमशः यथार्थवादी जीवन-दर्शन को महत्त्व देना आरंभ किया। छायावादी युग के कई लेखक नयी भूमि पर पदार्पण कर नवीन युग-चेतना के अनुसार साहित्य-रचना में प्रवृत्त हुए। फलस्वरूप सन् १९३८ के बाद 'छायावाद' का अन्त हुआ। उसके बाद के साहित्य को छायावादोत्तर साहित्य कहा गया है। छायावादोत्तर युग में साहित्यकारों की दो पीढ़ियाँ साहित्य-रचना में प्रवृत्त हैं। एक पीढ़ी उन साहित्यकारों की है जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व से लिखते आ रहे थे और उसके बाद भी सक्रिय रहे हैं। दूसरी पीढ़ी उन लेखकों की है जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद साहित्य सृजन में प्रवृत्त हुए हैं। पहली पीढ़ी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी,

रामधारीसिंह 'दिनकर', यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', नगेन्द्र, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', भगवतशरण उपाध्याय आदि गद्य-लेखक हैं। दूसरी पीढ़ी में विद्यानिवास मिश्र, हरिशंकर परसाई, फणीश्वरनाथ 'रेणु', कुबेरनाथ राय, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। द्विवेदीजी के गद्य में पांडित्य और चिन्तन के साथ ही सहजता एवं सरसता का अद्भुत समन्वय है। भाषा पर द्विवेदीजी का असाधारण अधिकार है। उन्होंने हिन्दी-गद्य में बाणभट्ट की समास-गुंफित ललित पदावली अवतरित कर उसे अद्भुत गरिमा प्रदान की है। शान्तिप्रिय द्विवेदी अपनी प्रभावग्राहिणी प्रज्ञा और भावोच्छ्वसित शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। 'दिनकर' के गद्य में विचारशीलता, विषयवैविध्य एवं व्यक्तित्व-व्यंजना तीनों का समन्वय है। यशपाल और 'अश्क' का गद्य सामाजिक यथार्थ के विविध स्तरों को व्यक्त करने में समर्थ है। भगवतीचरण वर्मा का गद्य सहज, व्यावहारिक, प्रवाहपूर्ण एवं व्यंग्यगर्भित है। अमृतलाल नागर के गद्य में लखनवी तर्ज की एक विशेष प्रकार की रवानी है। मूलतः कथाकार होने के नाते इन लेखकों में वर्णनात्मक शैली का विशेष आकर्षण है। जैनेन्द्र का गद्य उनकी दार्शनिक मुद्रा और मनोवैज्ञानिक निगूढ़ता के लिए विख्यात है। 'अज्ञेय' अपनी बौद्धिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका गद्य चिन्तन-प्रधान एवं परिष्कृत होने के साथ ही व्यक्तित्व-व्यंजक और व्यंग्यगर्भित भी है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को आधुनिक परिवेश से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। डॉ० नगेन्द्र का गद्य सामान्यतः तर्क-प्रधान विश्लेषणपरक और आत्मविश्वास की गरिमा से पूर्ण होता है किन्तु उसमें संदर्भ के अनुकूल नाटकीयता, व्यंग्य तथा बिम्ब-विधान भी लक्षित किया जा सकता है। रामवृक्ष बेनीपुरी अपने शब्द-चित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं। ग्रामीण जीवन की निश्छल अभिव्यक्ति उनके गद्य को प्राणवान बना देती है। बनारसीदास चतुर्वेदी की ख्याति उनके संस्मरणों, जीवनियों और रेखाचित्रों के लिए है। उनकी शैली रोचक और भाषा प्रवाहपूर्ण है। उनके छोटे-छोटे वाक्य अनुभव खण्डों को चित्रवत प्रस्तुत करते चलते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल का गद्य सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक गरिमा से मंडित है। उसमें विद्वत्ता, विचारशीलता और सरसता का अद्भुत समन्वय है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' अपने राजनीतिक संस्मरणों और रिपोर्ताजों के लिए प्रसिद्ध हैं। करुणा,

व्यंग्य और भावुकता के समावेश से उनका गद्य अत्यन्त आकर्षक हो गया है। भगवतशरण उपाध्याय इतिहास की चिरस्मरणीय घटनाओं को भावपूर्ण नाटकीय शैली में प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। उनका गद्य उनके इतिहास-ज्ञान एवं संस्कृति-बोध का परिचायक है। नयी पीढ़ी के लेखकों में विद्यानिवास मिश्र अपनी मांगलिक दृष्टि, सांस्कृतिक-चेतना, लोक-सम्पृक्ति एवं आधुनिक जीवन-बोध के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका गद्य उनके व्यक्तित्व को साकार कर देता है। हरिशंकर परसाई ने सामाजिक, राजनीतिक जीवन की विसंगतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। उन्होंने हिन्दी गद्य की व्यंग्य-क्षमता को निखारा है। 'रेणु' का गद्य ध्वनि-बिम्बों के माध्यम से वातावरण को सजीव बनाने में सक्षम है। कुबेरनाथ राय ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की गद्य-परम्परा को आगे बढ़ाया है। प्राचीन सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संदर्भों को नयी अर्थवत्ता प्रदान करके श्री राय ने हिन्दी-गद्य को नयी भाव-भूमि प्रदान की है। धर्मवीर भारती गंभीर एवं विचारपूर्ण गद्य लिखते रहे हैं। इधर यात्रावृत्त, रिपोर्ताज तथा व्यंग्य-विद्रूप लिखकर उन्होंने अपने गद्य को अपेक्षाकृत हल्की मनःस्थितियों से जोड़ने की चेष्टा की है। शिवप्रसाद सिंह लोक-चेतना से सम्पृक्त होते हुए भी व्यापक दृष्टि-सम्पन्न लेखक हैं। उनका गद्य उनकी व्यापक मानवीय सम्बन्ध चेतना का वाहक है। गद्य-लेखकों की इन दोनों पीढ़ियों ने हिन्दी-गद्य को सशक्त बनाया है, उसकी शब्द-सम्पदा में वृद्धि की है। उसे जीवन की बाह्य परिस्थितियों, सामाजिक सम्बन्धों, विसंगतियों, आधुनिक मानव के आन्तरिक द्वंद्वों एवं तनावों को व्यक्त करने में सक्षम बनाया है। अनेक नवीन कलात्मक गद्य-विधानों का विकास किया है और सब मिलकर उसे राष्ट्रीय गरिमा प्रदान की है। अब हिन्दीतर प्रदेशों के लेखक भी हिन्दी में रुचि लेने लगे हैं। विदेशों में भी हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है। हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है और उसके विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित होने की संभावना बढ़ गयी है।

हिन्दी-गद्य की विधाएँ

हिन्दी-गद्य की विधाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग प्रमुख विधाओं का है। इसमें नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचना को रखा जा सकता है। दूसरा वर्ग गौण या प्रकीर्ण गद्य-विधाओं का है। इसके अन्तर्गत जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, गद्य-काव्य, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, डायरी, भेंट-वार्ता, पत्र-साहित्य आदि का उल्लेख किया जा सकता है। प्रमुख

विधाओं में 'नाटक', 'उपन्यास', 'कहानी' तथा 'निबंध' और 'आलोचना' का आरम्भ तो भारतेन्दु-युग (सन् १८७०-१६००) में ही हो गया था। किन्तु गौण या प्रकीर्ण गद्य-विधाओं में कुछ का विकास द्विवेदी-युग और शेष का छायावाद और छायावादोत्तर युग में हुआ है। द्विवेदी-युग में 'जीवनी', 'यात्रावृत्त', 'संस्मरण' और 'पत्र-साहित्य' का आरम्भ हो गया था। छायावाद-युग में 'गद्य-काव्य' तथा 'संस्मरण' और 'रेखाचित्र' की विधाएँ विशेष समृद्ध हुईं। छायावादोत्तर-युग में प्रकीर्ण गद्य-विधाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ है। 'आत्मकथा', 'रिपोर्ताज', 'भेंट-वार्ता', 'व्यंग्य-विद्रूप-लेखन', 'डायरी', 'एकालाप' आदि अनेक विधाएँ छायावादोत्तर युग में विकसित और समृद्ध हुई हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रमुख गद्य-विधाएँ अपनी रूप-रचना में एक-दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र हैं किन्तु प्रकीर्ण गद्य-विधाओं में से अनेक निबंध-विधा से पारिवारिक सम्बन्ध रखती हैं। एक ही परिवार से सम्बद्ध होने के कारण यह एक-दूसरे के पर्याप्त निकट प्रतीत होती हैं।

नाटक

नाटक वस्तुतः रूपक का एक भेद है। रूप का आरोप होने के कारण नाटक को रूपक कहा गया है। अभिनय के समय नट पर दुष्यन्त या राम जैसे ऐतिहासिक पात्र का आरोप किया जाता है। इसीलिए इसे रूपक कहते हैं। नट (अभिनेता) से सम्बद्ध होने के कारण इसे नाटक कहते हैं। नाटक में ऐतिहासिक पात्रविशेष की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था का अनुकरण किया जाता है। आज नाटक शब्द अंग्रेजी 'ड्रामा' या 'प्ले' का पर्याय बन गया है। हिन्दी में मौलिक नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मानाजाता है। द्विवेदी-युग में इसका अधिक विकास नहीं हुआ। छायावाद-युग में जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। छायावादोत्तर-युग में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्र नाथ 'अश्क', सेठ गोविन्द दास, डॉ० रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश आदि ने इस विधा को विकसित किया है। नाटकों का एक महत्त्वपूर्ण रूप एकांकी है। 'एकांकी' किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना, परिस्थिति या समस्या को आधार बनाकर लिखा जाता है और उसकी समाप्ति एक ही अंक में उस घटना के चरम क्षणों को मूर्त्त करते हुए कर दी जाती है। हिन्दी में एकांकी नाटकों का विकास छायावाद-युग से माना है। सामान्यतः श्रेष्ठ नाटककारों ने ही श्रेष्ठ एकांकियों की भी रचना की है।

उपन्यास

उपन्यास शब्द का शाब्दिक अर्थ है—सामने रखना। उपन्यास में 'प्रसादन' अर्थात् प्रसन्न रखने का भाव भी निहित है। इस प्रकार किसी घटना को इस प्रकार सामने रखना कि उससे दूसरों को प्रसन्नता हो 'उपन्यस्त' करना कहा जायगा। किन्तु इस अर्थ में 'उपन्यास' का प्रयोग आजकल नहीं होता। हिन्दी में 'उपन्यास' अंग्रेजी 'नावेल' का पर्याय बन गया है। हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' माना जाता है। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यास को सामयिक-सामाजिक-जीवन से सम्बद्ध करके एक नया मोड़ दिया था। वे 'उपन्यास' को मानव-चरित्र का चित्र समझते थे। उनकी दृष्टि में 'मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।' वस्तुतः उपन्यास गद्य-साहित्य की वह महत्त्वपूर्ण कलात्मक विधा है जो मनुष्य को उसकी समग्रता में व्यक्त करने में समर्थ है। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, फणीश्वरनाथ 'रेणु', धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव आदि लेखकों ने हिन्दी-उपन्यास साहित्य को समृद्ध किया है।

कहानी

हिन्दी में मौलिक कहानियों का आरम्भ 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के बाद हुआ। कहानी या आख्यायिका हमारे देश के लिए नयी चीज नहीं है। पुराणों में शिक्षा, नीति एवं हास्य-प्रधान अनेक आख्यायिकाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु आधुनिक साहित्यिक कहानियाँ उद्देश्य और शिल्प में उनसे भिन्न हैं। आधुनिक कहानी जीवन के किसी मार्मिक तथ्य को नाटकीय प्रभाव के साथ व्यक्त करने वाली अपने में पूर्ण एक कलात्मक गद्य-विधा है जो पाठक को अपनी यथार्थपरकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण निश्चित रूप से प्रभावित करती है। हिन्दी कहानी के विकास में प्रेमचन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रेमचन्दोत्तर या छायावादोत्तर युग में जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त, मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ 'रेणु', द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, मन्नू भण्डारी, शिवानी, निर्मल वर्मा आदि लेखकों ने इस विधा को अधिक कलात्मक और समृद्ध बनाया है।

आलोचना

आलोचना का शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु को भली प्रकार देखना। भलीप्रकार

देखने से किसी वस्तु के गुण-दोष प्रकट होते हैं। इसलिए किसी साहित्यिक रचना को भली प्रकार देख कर उसके गुण-दोषों को प्रकट करना उसकी आलोचना करना है। आलोचना के लिए 'समीक्षा' शब्द प्रचलित है। इसका भी लगभग यही अर्थ है। हिन्दी में आलोचना अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द का पर्याय बन गया है। भारतीय काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में सैद्धान्तिक या शास्त्रीय आलोचना का विशेष महत्त्व रहा है। हमारा यह पक्ष अत्यन्त समृद्ध और पुष्ट है। हिन्दी में आधुनिक पद्धति की आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में बालकृष्ण भट्ट और चौधरी प्रेमघन द्वारा लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की आलोचना से माना जाता है। आगे चलकर द्विवेदी युग में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, बाबू श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि ने इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया। हिन्दी आलोचना का उत्कर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना कृतियों के प्रक.शन से मान्य है। आचार्य शुक्ल के बाद बाबू गुलाबराय, पं० नन्ददुलारे बाजपेयी', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और रामविलास शर्मा ने हिन्दी-आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

निबन्ध

हिन्दी में निबंध शब्द अंग्रेजी के 'एसे' शब्द के पर्याय के रूप में व्यवहृतहोता है। 'एसे' शब्द का अर्थ है—प्रयास। अर्थात् किसी विषय के संबंध में कुछ कहने का प्रयास ही 'एसे' है। 'प्रयास' होने के कारण 'एसे' या निबंध अपने मूलरूप में प्रौढ़ रचना नहीं मानी गयी है। यह शिथिल मनःस्थिति में लिखित अव्यवस्थित और ढीली-ढाली रचना समझी जाती है। व्यवहार में विचार-प्रधान गम्भीर लेखों तथा भाव-प्रधान आत्म-व्यंजक रचनाओं, दोनों के लिए निबंध शब्द का प्रयोग होता है। निबंध को परिभाषित करते हुए बाबू गुलाबराय ने कहा है—'निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।' निबन्ध मुख्यतः चार प्रकार के माने गये हैं :—

१—**वर्णनात्मक**—इसमें किसी वस्तु को स्थिर रूप में देखकर उसका वर्णन किया जाता है।

२—**विवरणात्मक**—इसमें किसी वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखकर उसका वर्णन किया जाता है।

३ – **विचारात्मक**—इसमें विचार और तर्क की प्रधानता होती है।

४—**भावात्मक** –यह भाव-प्रधान होता है। इसमें आवेगशीलता होती है।

वस्तुतः निबंध-लेखक के व्यक्तित्व के अनुसार निबंध-रचना के अनेक प्रकार हो सकते हैं। यह भेद सुविधा की दृष्टि से निबंधों को मोटे तौर पर वर्गीकृत करने के लिए किये गये हैं।

हिन्दी में निबंध रचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने अनेक विषयों से संबंधित सुन्दर निबंध लिखे थे। उसके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि ने इस विधा को विकसित और समृद्ध किया। आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामधारीसिंह 'दिनकर', वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० नगेन्द्र, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, आदि लेखकों ने हिन्दी निबंध की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

गौण या प्रकीर्ण विधाएँ

गौण विधाओं का एक-दूसरे से निकट का संबंध है। यह सभी एक प्रकार से निबंध-परिवार में आती हैं। प्रायः सभी का संबंध लेखक के व्यक्तिगत जीवन और उसके परिवेश से है। लेखक जितने ही अपने देश-काल और परिवेश के प्रति संवेदनशील होंगे, गौण कही जाने वाली विधाओं का उतना ही विकास होगा। सम्प्रति हिन्दी-गद्य में इन विधाओं की रचना प्रचुर परिमाण में हो रही है। इसलिए हिन्दी-गद्य के साम्प्रतिक स्वरूप को समझने के लिए इन विधाओं के विकास का ज्ञान आवश्यक है।

जीवनी

किसी महान् व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं को काल-क्रम से इस रूप में प्रस्तुत करना कि उनसे उस व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर उठे सफल जीवनी के लिए आवश्यक है। जीवनी लेखक तटस्थ रहता है। वह अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त नहीं करता। यों तो हिन्दी में जीवनी-लेखन का कार्य भारतेन्दु-युग में ही आरंभ हो गया था किन्तु आदर्श जीवनियाँ बहुत बाद में लिखी गयीं। द्विवेदी-युग में ऐतिहासिक पुरुषों और धार्मिक नेताओं की जीवनियाँ अधिक लिखी गयीं। इस युग के जीवनी-लेखकों में लक्ष्मीधर बाजपेयी, सम्पूर्णानन्द, नाथूराम प्रेमी, मुकुन्दीलाल

वर्मा उल्लेखनीय हैं। छायावाद-युग में राष्ट्रीय महापुरुषों—लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक, गाँधी, जवाहरलाल नेहरू आदि की जीवनियाँ अधिक लिखी गयीं। इस युग के जीवनी-लेखकों में रामनरेश त्रिपाठी, गणेशशंकर विद्यार्थी, मन्मथनाथ गुप्त, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और मुंशी प्रेमचन्द उल्लेखनीय हैं। छायावादोत्तर युग में लोकप्रिय नेताओं, संतों-महात्माओं, विदेशी महापुरुषों, वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों और साहित्यकारों की जीवनियाँ लिखी गयीं। इस युग के जीवनी-लेखकों में काका कालेलकर, जैनेन्द्र कुमार, रामनाथ सुमन, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इधर अमृतराय, शान्ति जोशी, रामविलास शर्मा और विष्णु प्रभाकर ने क्रमशः 'कलम का सिपाही', 'सुमित्रानन्दन पंत जीवन और साहित्य', 'निराला की साहित्य साधना' तथा 'आवारा मसीहा' लिखकर साहित्यकारों की आदर्श जीवनियाँ प्रस्तुत करने की परम्परा का श्री गणेश किया है।

आत्मकथा

जब लेखक अपने जीवन को स्वयं प्रस्तुत करता है तो वह 'आत्मकथा' लिखता है। स्वयं अपने को निर्मम भाव से प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। इसलिए आदर्श आत्मकथा लिखना भी कठिन कार्य है। बीती हुई घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में स्मृति के आधार पर प्रस्तुत करना और उसके साथ ही तटस्थ रहकर आत्म-निरीक्षण करना सरल नहीं है, हिन्दी में यों तो स्वयं भारतेन्दु ने 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखकर इस दिशा में प्रयोग आरम्भ किया था किन्तु यह प्रयोग अधूरा रह गया। हिन्दी की आदर्श आत्मकथाएँ छायावाद और छायावादोत्तर युग में लिखी गयी हैं। इस क्षेत्र में बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'मेरी आत्म कहानी', वियोगीहरि कृत 'मेरा जीवन प्रवाह' राजेन्द्र बाबू कृत 'मेरी आत्मकथा', यशपाल कृत 'सिंहावलोकन', पाँडेय बेचनशर्मा 'उग्र' कृत 'अपनी खबर', बाबू गुलाबराय कृत 'मेरी असफलताएँ', वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'अपनी कहानी', 'पंत' कृत 'साठ वर्ष एक रेखांकन' और लोकप्रिय कवि बच्चन कृत 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', तथा 'नीड़ का निर्माण फिर', उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

यात्रावृत्त

जब लेखक अपने जीवन की अविस्मरणीय यात्राओं का विवरण आत्म-कथात्मक शैली में प्रस्तुत करता है तो वह 'यात्रा-साहित्य' की सृष्टि करता है। आदर्श यात्रावृत्त वह माना जाता है जिसमें यात्रा-क्रम में आये हुए स्थान और बीती हुई

घटनाएँ लेखक की स्मृति-संवेदना का अंग बनकर चित्रवत् अंकित होती जाती हैं। यात्रावृत्त आत्मकथा का अंश भी हो सकता है और स्वतंत्र रूप में भी लिखा जा सकता है। यात्रावृत्त में 'आत्मकथा', 'संस्मरण' और 'रिपोर्ताज' तीनों के तत्त्व पाये जाते हैं। हिन्दी में 'यात्रावृत्त' लिखने का क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है किन्तु कलात्मक यात्रावृत्त छायावाद और छायावादोत्तर युग में लिखे गये हैं। इस क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, 'अज्ञेय', यशपाल, नगेन्द्र, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि के द्वारा प्रस्तुत यात्रावृत्त उल्लेखनीय हैं।

गद्यगीत या गद्यकाव्य

गद्यगीत में भक्ति, प्रेम, करुणा आदि भावनाएँ छोटे-छोटे कल्पना चित्रों के माध्यम से अन्योक्ति या प्रतीक पद्धति पर व्यक्त की जाती हैं। अनुभूति की सघनता, भावाकुलता, संक्षिप्तता, रहस्यमयता तथा सांकेतिकता श्रेष्ठ गद्यगीत की विशेषताएँ हैं। हिन्दी में गद्यगीतों का आरम्भ बाबू रायकृष्णदास के 'साधना-संग्रह' के प्रकाशन से हुआ। इसके बाद वियोगीहरि का 'तरंगिणी' संग्रह प्रकाशित हुआ। ये दोनों कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं। इसके बाद छायावाद-युग में गद्यगीतों की रचना अधिक हुई। बाबू रायकृष्णदास और वियोगीहरि के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, 'अज्ञेय' और डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी गद्यगीतों के क्षेत्र में अच्छे प्रयोग किये। छायावादोत्तर-युग में दिनेशनंदिनी डालमिया, डॉ० रघुवीर सिंह, तेज नारायण काक, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने सुन्दर गद्यगीतों की रचना की है।

संस्मरण

जब लेखक अपने निकट सम्पर्क में आने वाले महत्, विशिष्ट, विचित्र, प्रिय और आकर्षक व्यक्तियों, घटनाओं या दृश्यों को स्मृति के सहारे पुनः कल्पना में मूर्त करता है और उसे शब्दांकित करता है तब वह 'संस्मरण' लिखता है। संस्मरण लिखते समय लेखक पूर्णतः तटस्थ नहीं रह पाता। याद आने वाले का अंकन करते हुए वह स्वयं भी अंकित हो जाता है। संस्मरण लेखक के लिए संवेदनशील, प्रभावग्राही और व्यक्ति या वस्तु के वैशिष्ट्य को लक्षित करने वाला होना चाहिए। हिन्दी में आदर्श संस्मरण छायावादोत्तर युग में लिखे गये हैं। इस क्षेत्र में श्रीराम शर्मा, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', देवेन्द्र सत्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रेखाचित्र

रेखाचित्र में भी किसी 'व्यक्ति', 'वस्तु' या 'सन्दर्भ' का चित्रांकन किया जाता है। रेखाचित्र में सांकेतिकता अधिक रहती है। जिस प्रकार रेखा चित्रकार थोड़ी सी रेखाओं का प्रयोग करके किसी व्यक्ति, वस्तु या सन्दर्भ की मूलभूत विशेषता को उभार देता है उसी प्रकार लेखक कम से कम शब्दों का प्रयोग करके किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषता को उभार देता है। 'रेखाचित्र' में लेखक का पूर्णतः तटस्थ होना आवश्यक है। वस्तुतः संस्मरण और रेखाचित्र एक दूसरे से मिलती-जुलती विधाएँ हैं। 'संस्मरण' में भी चित्रशैली का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु रेखाचित्र में चित्र अधूरा या खंडित भी हो सकता है जबकि संस्मरण में चित्र छोटा या लघु भले हो उसे अपने आप में पूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। संस्मरण अभिधामूलक होता है किन्तु रेखाचित्र सांकेतिक और व्यंजक होता है। वस्तुतः 'रेखाचित्र' संस्मरण का कलात्मक विकास है। हिन्दी में महादेवी वर्मा, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विनय मोहन शर्मा, विष्णु प्रभाकर और डॉ० नगेन्द्र के रेखाचित्र उल्लेखनीय हैं।

रिपोर्ताज

रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को ही रिपोर्ताज कहते हैं। रिपोर्ताज में समसामयिक घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रिपोर्ताज लेखक का घटना से प्रत्यक्ष साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए युद्ध की विभीषिका, अकाल की छाया या पूरे मानव समाज को प्रभावित करने वाली अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं के घटित होने पर पत्रकार और साहित्यकार उस घटना के अनेक सन्दर्भों की प्रत्यक्ष जानकारी हासिल करते हैं और उन्हें रिपोर्ताज शैली में प्रस्तुत करके पाठक के मन को झकझोर देते हैं। हिन्दी में रिपोर्ताज लिखने का प्रचलन छायावादोत्तर युग में हुआ है। इस क्षेत्र में रांगेय राघव, बालकृष्ण राव, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विष्णुकांत शास्त्री आदि लेखकों का नाम उल्लेखनीय है।

डायरी

जब लेखक तिथि-विशेष में घटित घटना-चक्र को यथातथ्य रूप में अथवा अपनी संक्षिप्त प्रतिक्रिया या टिप्पणी के साथ लिख लेता है तो यह लेखन 'डायरी' विधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। डायरी कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियों में घटित घटनाओं

को लेकर भी लिखी जा सकती है और क्रमबद्ध रूप में रोजनामचा के रूप में भी लिखी जा सकती है उसका आकार कुछ पंक्तियों तक ही सीमित हो सकता है और कई पृष्ठों तक विस्तृत भी। वह स्वतंत्र रूप से भी लिखी जा सकती है और कहानी, उपन्यास या यात्रावृत्त के अंग के रूप में भी। डायरी मूलतः लेखक की निजी वस्तु है। इसमें उसे अपने निजी विचार, दृष्टि, उद्भावना और प्रतिक्रिया व्यक्त करने की छूट है यह दूसरी बात है कि जिस लेखक का सारा जीवन ही सार्वजनिक हो उसकी डायरी भी सार्वजनिक वार्तों को लेकर लिखी जाय। कभी-कभी डायरी घटित तथ्य को आधार न बनाकर संभावित और काल्पनिक सत्य को लेकर भी लिखी जाती है। इसमें शिल्प डायरी का होता है किन्तु तथ्याधार सार्वजनिक होता है। हिन्दी में डायरी विधा का आरम्भ छायावादी-युग से मान्य है। इस संदर्भ में धीरेन्द्र वर्मा कृत 'मेरी कालेज डायरी' उल्लेखनीय है। छायावादोत्तर युग में इलाचन्द्र जोशी, रामधारी सिंह 'दिनकर', शमशेरबहादुर सिंह, मोहन राकेश, आदि की डायरियाँ प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में गद्य की इस कलात्मक विधा का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है।

भेंट-वार्ता

जब किसी महान् दार्शनिक, राजनीतिज्ञ या साहित्यकार से मिलकर साहित्य, दर्शन या राजनीति के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये जाते हैं और उनसे प्राप्त उत्तरों को व्यवस्थित ढंग से लिपि-बद्ध कर लिया जाता है तो 'भेंट-वार्ता' की सृष्टि होती है। भेंट-वार्ता वास्तविक भी होती है और काल्पनिक भी। भेंट-वार्ता में नाटकीयता आवश्यक है। यह सामान्यतः प्रश्नोत्तर-शैली में लिखी जाती है। भेंट-वार्ताओं में जिस व्यक्ति से भेंट की जाती है उसके स्वभाव, रुचि, कार्य-कुशलता, बुद्धिमत्ता तथा अपनी उत्सुकता, संभ्रमता आदि का उल्लेख करके लेखक भेंट-वार्ताओं को अधिक रुचिकर बना सकता है। हिन्दी में वास्तविक और काल्पनिक दोनों ही प्रकार की भेंट-वार्ताएँ लिखी गयी हैं। वास्तविक भेंट-वार्ता लिखने वालों में पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' और रणवीर राँग्रा के नाम उल्लेखनीय हैं। काल्पनिक भेंट-वार्ता लिखने वालों में राजेन्द्र यादव (चैखव : एक इण्टरव्यू), और श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन (भगवान महावीर : एक इण्टरव्यू) उल्लेखनीय है। भेंट-वार्ताएँ छायावादोत्तर-युग में ही लिखी गयी हैं। अभी हिन्दी में इस विधा के विकास की पूरी संभावना है।

पत्र-साहित्य

जब लेखक अपने किसी मित्र, परिचित या अल्प परिचित व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में या किसी महत्त्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में उसकी और अपनी सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखकर उचित आदर, सम्मान या स्नेह का भाव प्रकट करते हुए निजी तौर पर मात्र सूचना, जिज्ञासा या समाधान लिखकर भेजता है और उत्तर की अपेक्षा रखता है तो वह पत्र-साहित्य का सृजन करता है। पत्र नितांत निजी हो सकते हैं और सार्वजनिक भी। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजे जाने वाले पत्र प्रायः सार्वजनिक प्रश्नों को लेकर लिखे जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से वे पत्र अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं जो प्रकाशनार्थ नहीं लिखे जाते और मात्र दो व्यक्तियों के बीच की वस्तु होते हैं। हिन्दी-साहित्य में पत्र-प्रकाशन का आरम्भ द्विवेदी-युग में ही हो गया था। महात्मा मुंशीराम ने स्वामी दयानन्द सम्बन्धी पत्रों का संकलन सन् १९०४ में प्रकाशित कराया था। छायावाद-युग में रामकृष्ण आश्रम देहरादून से 'विवेकानन्द पत्रावली' का प्रकाशन किया गया। छायावादोत्तर-युग में पत्र-साहित्य के संकलन और प्रकाशन की दिशा में कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। इस क्षेत्र में बैजनाथ सिंह 'विनोद' द्वारा संकलित 'द्विवेदीपत्रावली' (सन् १९५४), बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा संकलित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' (सन् १९५६), वियोगी हरि द्वारा संकलित 'बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र' (सन् १९६०), जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा संकलित 'निराला के पत्र' (सन् १९७१), हरिवंशराय बच्चन द्वारा संकलित 'पन्त के दो सौ पत्र बच्चन के नाम' (सन् १९७१) उल्लेखनीय पत्र संकलन हैं।

उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त संप्रति हिन्दी-गद्य-साहित्य में 'अभिनन्दन एवं स्मृति ग्रंथ', 'टिप्पणी लेखन', 'लघु कथा', 'एकालाप' आदि अनेक गद्य-विधाएँ विकसित हो रही हैं। आज जीवन की संकुलता और मानवीय सम्बन्धों की जटिलता के कारण अनेक छोटी-छोटी गद्य-विधाओं के विकसित होने की सम्भावना बढ़ गयी है। इसके साथ ही गद्य शैली में विविधता और उसकी अभिव्यक्ति-भंगिमा में अनेकरूपता आयी है। हिन्दी-गद्य यथार्थोन्मुख हुआ है। उसकी शब्द-सम्पदा में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वाक्य-रचना में लचीलापन आया है। आज वह वाह्य-जगत की विराटता और आन्तरिक जीवन की गहनता, जटिलता और सूक्ष्मता को व्यक्त करने में समर्थ है। यह हिन्दी-गद्य के सशक्त और समृद्ध होने का लक्षण है। यह शुभ लक्षण है।

अध्ययन-अध्यापन

इण्टरमीडिएट स्तर पर छात्र किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके होते हैं। किशोर की मानसिक दुनियाँ बहुरंगी होती है। उसमें आदर्शवादिता एवं कल्पनाशीलता भी प्रचुर मात्रा में होती है। अतः प्रस्तुत गद्य-संकलन में पाठों का चयन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि छात्र की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विषय-वस्तु सहायक हो। इसमें छात्रों की केवल वर्तमान रुचियों का ही ध्यान नहीं रखा गया है वरन् उनकी रुचि के परिष्कार का भी लक्ष्य सामने रखा गया है।

प्रस्तुत संकलन में इस बात का प्रयास किया गया है कि गद्य के ऐतिहासिक विकास उसकी विभिन्न शैलियों तथा उसकी विविध विधाओं से छात्र परिचित हो जायँ। यह कार्य गहन अध्ययन द्वारा संभव है। अतः इस पुस्तक को द्रुत पठन की पुस्तक की भाँति न पढ़ाकर विशद एवं गहन अध्ययन की पुस्तक की भाँति पढ़ाना है जिसकी प्रत्येक पंक्ति अर्थ-बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अर्थ-बोध हमारे पढ़ाने का प्रथम मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।

अर्थ-बोध छात्रों के पूर्वज्ञान, शब्द-भण्डार एवं पढ़ने की गति पर प्रायः आधारित होता है। अर्थबोध की योग्यता का विकास करने के लिए कक्षा में छात्रों को जिन बातों का अभ्यास कराना आवश्यक है उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१—सारांश बताना।

२—अनुच्छेदों का शीर्षक देना।

३—सन्दर्भ द्वारा शब्दों के अर्थ का अनुमान कर लेना।

४—केन्द्रीय भाव ग्रहण कर लेना।

५—पठित सामग्री का मूल्यांकन करना।

६—शैली की विविधता को समझना।

७—वाक्यों में शब्दों के क्रम के महत्त्व को पहचानना।

८—लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को समझना।

९—सुन्दर वाक्यों को कण्ठस्थ कर लेना।

अर्थ-बोध के अतिरिक्त कक्षा में पढ़ाने का दूसरा उद्देश्य शब्द-भाण्डार की वृद्धि है। पढ़ाते समय पर्यायवाची, विलोम, अनेकार्थवाची एवं समानार्थी शब्दों का ज्ञान कराना आवश्यक है। शब्द-रचना से भी छात्रों को परिचित होना चाहिए। शब्द-भाण्डार की वृद्धि की दृष्टि से कोश का प्रयोग आवश्यक है। इन क्रियाओं का अभ्यास कक्षा में कराना हितकर होगा।

प्रस्तुत संकलन के पाठों को पढ़ाने का तीसरा प्रमुख उद्देश्य पठन-गति का विकास करना है। इस स्तर पर सस्वर पठन की अपेक्षा मौन पठन का अधिक महत्त्व है किन्तु दोनों प्रकार के वाचनो में गति के विकास का ध्यान रखना लाभप्रद होगा। यह गति अभ्यास पर निर्भर है। अतः कक्षा में पठनाभ्यास आवश्यक है।

इण्टरमीडिएट के छात्रों को आलोचनात्मक चिन्तन की ओर भी उन्मुख होना है। अतः छात्रों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास करना अध्यापक का उद्देश्य होना चाहिए। निबंधों में आये हुए तथ्यों की तुलना करके उनकी तर्कसंगतता देखनी चाहिए। कारण-कार्य सम्बन्धों का विश्लेषण होना चाहिए। छात्रों को इस योग्य होना चाहिए कि वे पाठों को पढ़कर उनकी आलोचना स्वस्थ ढंग से कर सकें।

आलोचनात्मक चिन्तन के साथ-साथ छात्रों में रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास का भी ध्यान रखना श्रेयस्कर होगा। छात्र यह देखें कि एक ही बात को विभिन्न शैलियों में किस प्रकार कहा जा सकता है। इस विशेषता को लक्षित करके उन्हें अपने स्वभाव एव क्षमता के अनुकूल उपयुक्त शैली में भावाभिव्यक्ति का सफल प्रयत्न करना चाहिए तभी वे आगे चलकर स्वयं भी साहित्य की श्रीवृद्धि करने में समर्थ हो सकेंगे। पढ़ाते समय अध्यापक को मनोविज्ञान के अधुनातन सिद्धान्तों का उपयोग करना चाहिए। उसे विभिन्न युक्तियों का प्रयोग करते समय यह देखना चाहिए कि वे विभिन्न युक्तियाँ साहित्यिक विधाओं के भी अनुकूल हों और छात्रों की मानसिक योग्यता, अभिरुचि एवं क्षमता के भी।

निबंधों को पढ़ाने में निबंध की विषय-वस्तु, प्रस्तुति एवं प्रयोजन पर दृष्टि रहनी चाहिए। निबंधों के विषय अनेक प्रकार के हैं। इनसे छात्रों का परिचय होना ही है। प्रस्तुतीकरण की शैली भिन्न-भिन्न है। शैली की भिन्नता प्रयोजन तथा विषय की भिन्नता के कारण है। छात्रों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना है कि लेखक ने अपने आशय या प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए किस प्रकार की शैली का चुनाव किया है और इस प्रकार की शैली किस तरह के विषयों के लिए उपयुक्त होती है।

गद्यकार का कौशल उसकी अभिव्यंजना-शैली में देखा जा सकता है। व्यंग्यकार प्रायः उर्दू शब्दावली अथवा तद्भव शब्दावली का प्रयोग करता है जबकि गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति करने वाला निबन्धकार प्रायः तत्सम पदावली की ओर उन्मुख हो जाता है। टकसाली शब्दों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग की ओर झुकाव कुछ गद्यकारों में विशेष रूप से दिखायी पड़ता है। छात्रों को इस योग्य होना है कि वे शब्दों के परे जाकर व्यंग्यार्थ की अनुभूति कर सकें। संकेतों को अच्छी तरह से समझना और लेखक के आशय को ग्रहण करना कठिन होता है और इसी कठिनाई पर विजय पाने के लिए कक्षा में पठन-पाठन की योजना बनायी जाती है। अच्छा हो कि छात्रों के पूर्वज्ञान का अनुमान करके अध्यापक पाठ्य-सामग्री के प्रमुख पाठ्य-बिन्दुओं को पहले से ही नियोजित कर लें जिससे कि समय और श्रम का अपव्यय न हो।

गद्य-शिक्षण के समय अध्यापक को पाठ्य-बिन्दुओं का निश्चय पहले से ही कर लेना चाहिए। किन तथ्यों पर अधिक बल देना है और कौन-से स्थल अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, किन वाक्यों की व्याख्या करनी है, किन सन्दर्भों को देना है, इसका निश्चय प्रत्येक पाठ के शिक्षण के पूर्व ही कर लेना चाहिए। कक्षा में शिक्षण का आरम्भ चाहे जिस विधि से किया जाय किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि छात्र प्रारम्भ में ही लेखक से कुछ परिचित हो जाँय और नवीन विषयवस्तु को ग्रहण करने की मानसिक स्थिति में वे आ जाँय। अनुभवों एवं पूर्व अर्जित ज्ञान का भरपूर उपयोग किया जाय।

गद्य-शिक्षण में प्रत्येक पाठ के शिक्षण की विधि एक ही यांत्रिक ढंग से नहीं होनी चाहिए। जिस विधि से समीक्षात्मक पाठ पढ़ाया जायगा उसी विधि से भावात्मक निबन्ध नहीं पढ़ाया जा सकता। रेखाचित्र, संस्मरण एवं रिपोर्ताज के पढ़ाने का ढंग अलग होगा। किसी निबन्ध को पढ़ाने में तथ्यों एवं घटनाओं की ओर छात्रों का ध्यान आकृष्ट किया जायगा तो किसी अन्य में मनोभावों एवं शैलीगत विशेषताओं को प्रमुखता दी जायगी। पाठ को पढ़ाने में मौन पाठ का सर्वाधिक महत्त्व होगा तो किसी अन्य में सस्वर पठन का भी उपयोग किया जा सकता है। फिर भी, इण्टर के स्तर पर मौन पठन को अधिक महत्त्व मिलेगा ही।

वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने के अवसर पर, विद्यालयीय पत्रिका हेतु लेख लिखने अथवा किसी आयोजन पर भाषण देने के अवसर पर किसी गद्यकार की शैली के अनुकरण के लिए छात्रों को प्रेरित किया जा सकता है।

निबन्ध पाठों के अध्ययन-अध्यापन के समय केवल परीक्षा को ही दृष्टि में रखना गद्य-शिक्षण का उद्देश्य नहीं है। परीक्षा को गौण समझा जाना चाहिए और निबन्धों की विशेषताओं से परिचय प्राप्त करके अपनी शैली में परिमार्जन करने को प्रमुखता दी जानी चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वंश-परम्परा में आते हैं। इनका जन्म काशी में सन् १८५० में और मृत्यु सन् १८८५ में हुई। भारतेन्दु प्रतिभासम्पन्न और अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति थे। ३५ वर्ष के अल्प जीवन-काल में इन्होंने हिन्दी-साहित्य की जो समृद्धि की वह सामान्य व्यक्ति के लिए असंभव है। ये कवि, नाटककार, निबंध-लेखक, संपादक, समाज-सुधारक सभी कुछ थे। हिन्दी गद्य के तो ये जन्मदाता समझे जाते हैं। इन्होंने सन् १८६८ में 'कवि वचन सुधा' और सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का संपादन किया था। ८ अंकों के बाद 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। हिन्दी गद्य को 'नई चाल में ढालने का श्रेय' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' को ही है। नाटकों के क्षेत्र में इनकी देन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने मौलिक और अनूदित सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की है, जिनकी सूची इस प्रकार है—

१. विद्या सुन्दर, २. रत्नावली, ३. पाखण्ड विडम्बन, ४. धनंजय विजय, ५. कर्पूर मंजरी, ६. मुद्राराक्षस, ७. भारत जननी, ८. दुर्लभ बंधु, ९. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, १०. सत्य हरिश्चन्द्र, ११. श्रीचंद्रावली, १२. विषस्य विषमौषधम्, १३. भारत दुर्दशा, १४. नीलदेवी, १५. अंधेर नगरी, १६. सती प्रताप, १७. प्रेम जोगिनी।

नाटकों की ही भाँति इनके निबंध भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबंधों के अध्ययन से इनकी विचारधारा का पूरा परिचय मिल जाता है। ये निबंध तत्कालीन सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति के भी परिचायक हैं। भारतेन्दु ने इतिहास, पुराण, धर्म, भाषा संगीत आदि अनेक विषयों पर निबंध लिखे हैं। इन्होंने जीवनियाँ और यात्रा-वृत्तान्त भी लिखे हैं। तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों को दृष्टि में रखकर इन्होंने हास्य और व्यंग्य लेख भी लिखे हैं। यही नहीं इन्होंने काल्पनिक कथा का आधार लेकर स्वामी दयानंद सरस्वती और केशवचन्द्र सेन के विचारों की उपयोगिता-अनुपयोगिता के सम्बन्ध में अपना मत भी प्रकट किया है।

शैली की दृष्टि से भारतेन्दु ने वर्णनात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक और भावात्मक सभी शैलियों में निबंध-रचना की है। इनके द्वारा लिखित 'दिल्ली दरबार दर्पण' इनकी वर्णनात्मक शैली का श्रेष्ठ निदर्शक है। इनके यात्रा-वृत्तान्त (सरयूपार की यात्रा, लखनऊ की यात्रा आदि) विवरणात्मक शैली में लिखे गये हैं। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' तथा 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' जैसे निबंध विचारात्मक हैं। भारतेन्दु की भावात्मक शैली का रूप इनके द्वारा लिखित जीवनियों (सूरदास, जयदेव, महात्मा मुहम्मद आदि) तथा ऐतिहासिक निबंधों में बीच-बीच में मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके निबंधों में शोध-शैली, भाषण-शैली, स्तोत्र-शैली, प्रदर्शन-शैली, कथा-शैली, आदि के रूप भी मिलते हैं। वस्तुतः भारतेन्दु का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे जब जो कहना चाहते थे उसके अनुरूप शैली और भाषा स्वयं ढल जाती थी।

भारतेन्दु का महत्त्व एक सुलझे हुए मध्यममार्गी विचारक के रूप में भी है। भाषा, साहित्य, समाज, देश, धर्म, जाति की उन्नति के लिए इन्होंने जो सुझाव दिये हैं वे आज भी उपयोगी हैं। इनकी भाषा व्यावहारिक, बोलचाल के निकट, प्रवाहमयी और जीवंत है। विषय के अनुसार उसका रूप बदल गया है किन्तु जिसे स्वयं भारतेन्दु ने 'शुद्ध हिन्दी' कहा है वह साफ-सुथरी छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त सहज और सर्वग्राह्य भाषा है।

भारतेन्दु अपने युग की सम्पूर्ण चेतना के केन्द्र-बिन्दु थे। वे प्राचीनता के पोषक भी थे और नवीनता के उन्नायक भी। वर्तमान के व्याख्याता भी थे और भविष्य के द्रष्टा भी। उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में हिन्दी साहित्य को सही दिशा की ओर अग्रसर करने के लिए जिस समन्वयशील प्रतिभा की आवश्यकता थी, भारतेन्दु के रूप में वह हिन्दी को प्राप्त हुई थी।

प्रस्तुत निबंध दिसम्बर सन् १८८४ में बलिया के ददरी मेले के अवसर पर आर्य देशोपकारिणी सभा में भाषण देने के लिए लिखा गया था। इसमें लेखक ने कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्याग कर अच्छी से अच्छी तालीम प्राप्त करने, उद्योग धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने की प्रेरणा दी है। देश की उन्नति के लिए ये बातें आज भी महत्त्व रखती हैं। इससे भारतेन्दु की दूरदर्शिता प्रकट होती है।

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है ?

आज बड़े आनन्द का दिन है कि छोटे से नगर बलिया में हम इतने मनुष्यों को एक बड़े उत्साह से एक स्थान पर देखते हैं। इस अभागे आलसी देस में जो कुछ हो जाय वही बहुत है। हमारे हिन्दुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी हैं। यद्यपि फर्स्ट क्लास सेकेण्ड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी अच्छी और बड़े बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी हैं पर बिना इंजिन सब नहीं चल सकतीं वैसे ही हिन्दुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए 'का चुप साधि रहा बलवाना' फिर देखिये हनुमान जी को अपना बल कैसा याद आता है। सो बल कौन याद दिलावै। या हिन्दोस्तानी राजे महराजे नवाब रईस या हाकिम। राजे महराजों को अपनी पूजा भोजन झूठी गप से छुट्टी नहीं। हाकिमों को कुछ तो सर्कारी काम घेरे रहता है कुछ बाल घुड़दौड़ थियेटर में समय गया। कुछ समय बचा भी तो उनको क्या गरज है कि हम गरीब गन्दे काले आदमियों से मिलकर अपना अनमोल समय खोवैं। बस वही मसल वही। "तुम्हें गैरों से कब फुरसत हम अपने ग़म से कब खाली। चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली न तुम खाली ॥"

पहले भी जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आकर बसे थे राजा और ब्राह्मणों के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावैं और अब भी ये लोग चाहैं तो हिन्दुस्तान प्रतिदिन क्या प्रतिछिन बढ़ै। पर इन्हीं लोगों को निकम्मेपन ने घेर रखा है।

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में

जब कि इनके पुरुषों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जोताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंगरेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सब के जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकैगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहै उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

मुझको मेरे मित्रों ने कहा था कि तुम इस विषय पर कुछ कहो कि हिन्दुस्तान की कैसे उन्नति हो सकती है।

भला इस विषय पर मैं और क्या कहूँ? भागवत में एक श्लोक है "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारं मयाऽनुकूलेन नभःस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।" भगवान कहते हैं कि पहले तो मनुष्य जन्म ही बड़ा दुर्लभ है सो मिला और उस पर गुरू की कृपा और उस पर मेरी अनुकूलता इतना सामान पाकर भी जो मनुष्य इस संसार सागर के पार न जाय उसको आत्महत्यारा कहना चाहिए वही दशा इस समय हिन्दुस्तान की है।

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही

नहीं रहती है बाबा हम क्या उन्नति करैं। तुम्हारा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैण्ड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ किया। क्या इंगलैण्ड में किसान खेतवाले गाड़ीवान मजदूर कोचवान आदि नहीं हैं? किसी देस में भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किन्तु वे लोग जहाँ खेत जोते बोते हैं वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी कौन नई कल या मसाला बनावैं जिसमें इस खेत में आगे से दून अन्न उपजे। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अखबार पढ़ते हैं। जब मालिक उतर कर किसी दोस्त के यहाँ गया उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अखबार निकाला। यहाँ उतनी देर कोचवान हुक्का पियेगा व गप्प करैगा। सो गप्प भी निकम्मी। "वहाँ के लोग गप्प में ही देश के प्रबन्ध छाँटते हैं।" सिद्धांत यह कि वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाय। उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही वह बड़ा अमीर समझा जाता है आलस यहाँ इतनी बढ़ गई है कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला—"अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गये सब के दाता राम।" चारों ओर आँख उठाकर देखिये तो बिना काम करने वालों की ही चारों ओर बढ़ती है रोजगार कहीं कुछ भी नहीं। चारों ओर दरिद्रता की आग लगी हुई है। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि दरिद्र कुटुम्बी इस तरह अपनी इज्जत को बचाता फिरता है जैसे लाजवती बहू फटे कपड़ों में अपने अंग को छिपाये जाती है। वही दशा हिन्दुस्तान की है। मर्दुमशुमारी का रिपोर्ट देखने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिन-दिन यहाँ बढ़ते जाते हैं और रुपया दिन-दिन कमती होता जाता है। सो अब बिना ऐसा उपाय किये काम नहीं चलैगा कि रुपया भी बढ़ै। और वह रुपया बिना बुद्धि बढ़े न बढ़ैगा। भाइयो राजा महाराजों का मुंह मत देखो मत यह आशा रखो कि पंडित जी कथा में ऐसा उपाय

बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़ै। तुम आप ही कमर कसो आलस छोड़ो कब तक अपने को जंगलीहूस मूर्ख बोदे डरपोकने पुकरवाओगे। दौड़ो इस घुड़दौड़ में जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नहीं। "फिर कब राम जनक पुर ऐहैं" अबकी पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुँचोगे।

अब भी तुम लोग अपने को न सुधारो तो तुम्हीं रहो। और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चालचलन में, शरीर में, बल में, समाज में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था सब जाति, सब देस में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों। चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहैं या नंगा कहैं, क्रस्तान कहैं या भ्रष्ट कहैं तुम केवल अपने देश की दीन दशा को देखो और उनकी बात मत सुनो। "अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः स्वकार्य साधयेत् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।" जो लोग अपने को देश हितैषी लगाते हों वह अपने सुख को होम करके अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कसके उठो। देखादेखी थोड़े दिन में सब हो जायगा। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देस की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ वहाँ से पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर कैद करो। इस समय जो जो बातें तुम्हारी उन्नति पथ की काँटा हों उनकी जड़ खोदकर फेंक दो।

अब यह प्रश्न होगा कि भाई हम तो जानते ही नहीं कि उन्नति और सुधारना किस चिड़िया का नाम है? किसको अच्छा समझैं? क्या लें क्या छोड़ें? तो कुछ बातें जो इस शीघ्रता से मेरे ध्यान में आती हैं उनको मैं कहता हूँ सुनो—

सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सब के पहले धर्म की ही

उन्नति करनी उचित है। देखो अंगरेजों की धर्मनीति राजनीति परस्पर मिली हैं इससे उनकी दिन दिन कैसी उन्नति है। उनको जाने दो, अपने ही यहाँ देखो। तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति समाज-गठन वैद्यक आदि भरे हुए हैं। दो एक मिसाल सुनो। यहीं तुम्हारा बलिया का मेला और यहाँ स्थान क्यौं बनाया गया है। जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते दस-दस पाँच-पाँच कोस से वे लोग एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलैं। एक दूसरे का दुख सुख जानैं। गृहस्थी के काम की वह चीजें जो गाँव में नहीं मिलतीं यहाँ से ले जाँय। एकादशी का व्रत क्यौं रखा है? जिसमें महीने में दो एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाय। गंगा जी नहाने जाते हैं तो पहिले पानी सिर पर चढ़ाकर तब पैर पर डालने का विधान क्यौं है? जिसमें तलुए से गरमी सिर में चढ़कर विकार न उत्पन्न करै। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने साल भर में एक बेर तो सफाई हो जाय। होली इसी हेतु है कि बसंत की बिगड़ी हवा स्थान-स्थान पर अग्नि बलने से स्वच्छ हो जाय। यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी है। ऐसे सब पर्व सब तीर्थ व्रत आदि में कोई हिकमत है। उन लोगों ने धर्म नीति और समाजनीति को दूध पानी की भाँति मिला दिया है। खराबी जो बीच में भई है वह यह है कि उन लोगों ने ये धर्म क्यौं मानने लिखे थे इसका लोगों ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया। भाइयो वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण कमल का भजन है।

ये सब तो समाज धर्म हैं। जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। दूसरी खराबी यह हुई है कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप दादों का मतलब न समझ कर बहुत से नये-नये धर्म बनाकर शास्त्रों में धर दिये। बस सभी तिथि व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गये। सो इन बातों को अब एक बेर आँख खोलकर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन

बुद्धिमान ऋषियों ने क्यौं बनाई और उनमें देश और काल के अनुकूल और उपकारी हों उनका ग्रहण कीजिये। बहुत सी बातैं जो समाज विरुद्ध मानी जाती हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसा जहाज का सफर विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन में ही ब्याह करके उनका बल, बीरज, आयुष्य सब मत घटाइए। आप उनके माँ बाप हैं या शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए। नोन तेल लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए। तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन प्रथा बहु विवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइये किन्तु इस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखैं पति की भक्ति करैं और लड़कों को सहज में शिक्षा दें। नाना प्रकार के मत के लोग आपस में बैर छोड़ दें यह समय इन झगड़ों का नहीं, हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए जाति में कोई चाहे ऊँचा हो चाहे नीचा हो सब का आदर कीजिए जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।

अपने लड़कों को अच्छी से अच्छी तालीम दो। पिनशिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दिलाओ। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़ै तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहै वह करो। देखो जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैण्ड, फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस

लंकलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंगलैण्ड का है। फरासीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो। और जरमनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है। यह तो वही मसल हुई एक बेफिकरे मंगनी का कपड़ा पहन कर किसी महफिल में गए। कपड़े को पहिचान कर एक ने कहा अजी अंगा तो फलाने का है दूसरा बोला अजी टोपी भी फलाने की है तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया कि घर की तो मूछैं ही मूछैं हैं। हाय, अफसोस, तुम ऐसे हो गये कि अपने निज की काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयो अब तो नींद से चौंको अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो वैसे ही खेल खेलो वैसी ही बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रश्न-अभ्यास

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतवर्ष की उन्नति के लिए क्या सुझाव दिये हैं ? संक्षेप में अपने शब्दों में लिखिए।
२. भारतेन्दु की दृष्टि में इंगलैण्ड की उन्नति का मूल कारण क्या है ? संक्षेप में लिखिए।
३. निम्नलिखित वाक्यों की व्याख्या कीजिए :
   (क) इस बरसात······चाहिए।
   (ख) उसने एक हाथ से······काँटों को साफ किया।
४. प्रस्तुत निबन्ध की भाषा खड़ीबोली से किन-किन रूपों में भिन्न है ?
५. लेखक का हिन्दुस्तानियों को रेल की गाड़ी कहने का क्या आशय है ?
६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा-शैली पर एक निबन्ध लिखिए।
७. निम्नलिखित वाक्यों का आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) 'यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी हैं।
   (ख) 'उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं।'
   (ग) 'जपानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देखकर भी लाज नहीं आती।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (सन् १८६४-१९३८)

इनका जन्म रायबरेली के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर इन्होंने जी० आई० पी० रेलवे में नौकरी कर ली। घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी और बंगला का अध्ययन किया। सन् १९०३ में रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' के संपादक बने। हिन्दी को सँवारने-सुधारने में इन्होंने स्तुत्य प्रयास किया। इनके पूर्व हिन्दी गद्य बहुत ही अव्यवस्थित स्थिति में था। इनके प्रयास से उसमें परिष्कार और परिमार्जन आया। इनके पूर्व स्थिति यह थी कि हिन्दी के नाम पर जो जैसा चाहता था वैसा लिखता था। टीका-टिप्पणी करके सही मार्ग का निर्देशन देने वाला कोई न था। इन्होंने इस अभाव को दूर किया तथा भाषा के स्वरूप-संगठन, वाक्य-विन्यास, विराम चिह्नों के प्रयोग तथा व्याकरण की शुद्धता पर इन्होंने विशेष बल दिया। लेखकों की अशुद्धियों को रेखांकित किया। स्वयं लिखकर तथा दूसरों से लिखवाकर इन्होंने हिन्दी-गद्य को पुष्ट और परिमार्जित किया। हिन्दी-गद्य के विकास में इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इन्होंने 'सरस्वती' में न केवल अपनी कविताएँ, निबन्ध तथा आलोचनाएँ लिखकर प्रकाशित करायीं बल्कि दूसरों को भी इन विधाओं में लिखने को निरंतर प्रेरित करते रहे। इस तरह 'सरस्वती' के माध्यम से इन्होंने बहुतों को लेखक बनाया और हिन्दी-गद्य को सही दिशा दी।

इनके मौलिक ग्रंथों में १. **अद्भुत आलाप**, २. **विचार-विमर्श**, ३. **रसज्ञ-रंजन**, ४. **संकलन**, ५. **साहित्य-सीकर**, ६. **कालिदास की निरंकुशता**, ७. **कलिदास और उनकी कविता**, ८. **हिन्दी भाषा की उत्पत्ति**, ९. **अतीत-स्मृति**, १०. **वाग्विलास** आदि महत्त्वपूर्ण हैं। ये उच्चकोटि के अनुवादक भी थे। इन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं से अनुवाद किया है। संस्कृत के अनूदित ग्रंथों में १. **रघुवंश**, २. **हिन्दी महाभारत**, ३. **कुमार-संभव**, ४. **किरातार्जुनीय** तथा अंग्रेजी के अनूदित ग्रंथों में ५. **बेकन विचार-माला**, ६. **शिक्षा**, ७. **स्वाधीनता** आदि उल्लेखनीय हैं।

ये भाषा के आचार्य थे। इनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत, परिमार्जित, एवं व्याकरण-सम्मत है। उसमें पर्याप्त गति तथा प्रवाह है। इन्होंने हिन्दी के शब्द-भाण्डार की श्रीवृद्धि में अप्रतिम सहयोग दिया है। इनकी शैली व्यास-शैली है। इन्होंने अपने निबन्धों में परिचयात्मक शैली, आलोचनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली तथा आत्म-कथात्मक शैली का प्रयोग किया है। कठिन से कठिन विषय को बोधगम्य रूप में प्रस्तुत करना इनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता है। शब्दों के प्रयोग में इनको रूढ़िवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आवश्यकतानुसार तत्सम शब्दों के अतिरिक्त अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्दों का भी इन्होंने व्यवहार किया है। आचार्य द्विवेदी सच्चे अर्थ में गद्य के युग-निर्माता हैं। यह उनकी ही निष्ठा, लगन, सूझ और परिश्रम का परिणाम है कि आज हिन्दी-गद्य इतना उन्नत और समृद्ध है।

भाषा-परिष्कार के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास किया और उसमें सुगम तथा गूढ़ सभी प्रकार के विषयों से सम्बन्धित विचारों को व्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न की। प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति से लेकर आधुनिक समाज एवं साहित्य तक के अनेकानेक विषयों का समावेश इन्होंने हिन्दी साहित्य में किया। इस प्रकार हिन्दी-गद्य में सर्वांगीणता आ गयी और वह निबन्ध, कहानी, उपन्यास आदि अनेक प्रकार की विधाओं को जन्म देने में समर्थ हुआ।

हिन्दी में समालोचना के सूत्रधार भी ये ही माने जाते हैं। इन्होंने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि किस प्रकार विदेशी विद्वानों ने भारतीय साहित्य का अध्ययन एवं मनन किया है। उन्हीं के समान प्राचीन भारतीय साहित्य की विशेषताओं का प्रकाशन इन्होंने अपने लेखों में किया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की आलोचना से आरम्भ करके हिन्दी साहित्य की आलोचना की ओर आने का मार्ग इन्होंने ही प्रशस्त किया। इनकी आलोचना शैली सरल, सुगम और व्यावहारिक है। प्रस्तुत लेख उसी शैली का एक उत्तम उदाहरण है।

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन—संस्कृत साहित्य में प्रकृति वर्णन पर्याप्त समृद्ध है। इसे समृद्ध बनाने में महाकवि माघ का अद्वितीय स्थान है। प्रस्तुत निबंध में महाकवि माघ के प्रभात-वर्णन संबंधी हृदयस्पर्शी स्थलों को निबंधकार ने हमारे सामने रखा है। उसने बहुत ही कलात्मक ढंग से यह दिखलाया है कि किस तरह सूर्य और चन्द्रमा, नक्षत्र एवं दिग्वधुएं अपनी-अपनी क्रीड़ाओं में तल्लीन हैं। मानवीकरण के सहारे उनकी क्रीड़ाओं को मूर्तिमान करने में महाकवि माघ को

आशातीत सफलता मिली है। सूर्य की रश्मियाँ अन्धकार को नष्ट कर जीवन और जगत् को प्रकाश से परिपूर्ण कर देती हैं। रसिक चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से रजनीगंधा को प्रमुदित कर देता है। सूर्य और चन्द्रमा समय-समय पर दिग्वधुओं से कैसे प्रणय-निवेदन करते हुए एक-दूसरे के प्रति प्रतिद्वन्द्विता के भाव से भर उठते हैं, कैसे प्रवासी सूर्य का स्थान चन्द्रमा लेकर दिग्वधुओं से हास-परिहास करते हुए सूर्य के कोप का भाजन बन उसके द्वारा परास्त किया जाता है—इन सबका बड़ा मनोहारी चित्रण इस निबंध में किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के उत्थान और पतन को देखकर मनुष्यमात्र को जीवन की परिवर्तनशीलता के प्रति आश्चर्य नहीं होता। इस शाश्वत नियम के प्रति उसका विश्वास दृढ़ होता है। इस तरह प्रभातकालीन सौन्दर्य की विविध रेखाओं को अंकित करते हुए अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं सरस ढंग से निबन्धकार ने मनुष्य-मात्र को प्रकृति से बहुत कुछ सीखने की संभावना पर बल दिया है।

———

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

रात अब बहुत ही थोड़ी रह गयी है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए। वे आसमान में लंबे पड़े हुए हैं। उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका-सा है और अगला ऊपर को। वहीं, उनके अधोभाग में, छोटा सा ध्रुवतारा कुछ-कुछ चमक रहा है। सप्तर्षियों का आकार गाड़ी के सदृश है—ऐसी गाड़ी के सदृश जिसका जुवाँ ऊपर को उठ गया हो; इसी से उनके और ध्रुवतारा के दृश्य को देखकर श्रीकृष्ण के बालपन की एक घटना याद आ जाती है। शिशु श्रीकृष्ण को मारने के लिए एक बार गाड़ी का रूप बनाकर शकटासुर नाम का एक दानव उनके पास आया। श्रीकृष्ण ने पालने में पड़े-ही-पड़े, खेलते-खेलते, उसे एक लात मार दी। उसके आघात से उसका अग्रभाग ऊपर को उठ गया, और पश्चाद्भाग खड़ा ही रह गया। श्रीकृष्ण उसके तले आ गये। वही दृश्य इस समय सप्तर्षियों की अवस्थिति का है। वे तो कुछ उठे हुए-से लंबे पड़े हैं, छोटा-सा ध्रुव उनके नीचे चमक रहा है।

पूर्व-दिशारूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम होती है। वह हँस-सी रही है। वह यह सोचती-सी है कि इस चन्द्रमा ने जब तक मेरा साथ दिया—जब तक यह मेरी संगति में रहा—तब तक उदित ही नहीं रहा, इसकी दीप्ति भी खूब बढ़ी। परन्तु, देखो, वही अब पश्चिम-दिशारूपिणी स्त्री की तरफ़ जाते ही (हीन-दीप्ति होकर) पतित हो रहा है। इसी से पूर्व दिशा, चन्द्रमा को देख-देख प्रभा के बहाने, ईर्ष्या से मुसका-सी रही है। परन्तु चन्द्रमा को उसके

हँसी-मजाक की कुछ भी परवाह नहीं। वह अपने ही रंग में मस्त मालूम होता है। अस्त समय होने के कारण उसका बिंब तो लाल है; पर किरणें उसकी पुराने कमल की नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफेद हैं। स्वयं सफेद होकर भी, बिंब के अरुणता के कारण, वे कुछ-कुछ लाल भी हैं। कुंकुम-मिश्रित सफेद चन्दन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई सफेद किरणों से चन्द्रमा पश्चिम दिग्वधू का शृंगार-सा कर रहा है—उसे प्रसन्न करने के लिए उसके मुख पर चन्दन का लेप-सा समा रहा है। पूर्व दिग्वधू के द्वारा किये गये उपहास की तरफ़ उसका ध्यान ही नहीं।

जब कमल शोभित होते हैं, तब कुमुद नहीं, और जब कुमुद शोभित होते हैं तब कमल नहीं। दोनों की दशा बहुधा एक सी नहीं रहती। परन्तु, इस समय, प्रातःकाल, दोनों में तुल्यता देखी जाती है। कुमुद बन्द होने को हैं; पर अभी पूरे बन्द नहीं हुए। उधर कमल खिलने को है, पर अभी पूरे खिले नहीं। एक की शोभा आधी ही रह गयी है, और दूसरे को आधी ही प्राप्त हुई है। रहे भ्रमर, सो अभी दोनों ही पर मँडरा रहे हैं और गुंजा-रव के बहाने दोनों ही के प्रशंसा के गीत-से गा रहे हैं। इसी से, इस समय कुमुद और कमल, दोनों ही समता को प्राप्त हो रहे हैं।

सायंकाल जिस समय चन्द्रमा का उदय हुआ था, उस समय वह बहुत ही लावण्यमय था। क्रम-क्रम से उसकी दीप्ति—उसकी सुन्दरता—और भी बढ़ गयी। वह ठहरा रसिक। उसने सोचा, यह इतनी बड़ी रात यों ही कैसे कटेगी; लाओ खिली हुई नवीन कुमुदिनियों (कोकाबेलियों) के साथ हँसी-मजाक ही करें। अतएव वह उनकी शोभा के साथ हास-परिहास करके उनका विकास करने लगा। इस तरह खेलते-कूदते सारी रात बीत गयी। वह थक भी गया; शरीर पीला पड़ गया; कर (किरण-जाल) स्रस्त अर्थात् शिथिल हो गये। इससे वह दूसरी दिगंगना (पश्चिम दिशा) की गोद में जा गिरा।

यह शायद उसने इसलिए किया कि रात-भर के जगे हैं; लाओ, अब उसकी गोद में आराम से सो जाँय।

अंधकार के विकट वैरी महाराज अंशुमाली अभी तक दिखायी भी नहीं दिये। तथापि उसके सारथि अरुण ही ने, उनके अवतीर्ण होने के पहले ही, थोड़े ही नहीं, समस्त तिमिर का समूल नाश कर दिया। बात यह है कि जो प्रतापी पुरुष अपने तेज से अपने शत्रुओं का पराभव करने की शक्ति रखते हैं, उनके अग्रगामी सेवक भी कम पराक्रमी नहीं होते। स्वामी को श्रम न देकर वे खुद ही उसके विपक्षियों का उच्छेद कर डालते हैं। इस तरह, अरुण के द्वारा अखिल अन्धकार का तिरोभाव होते ही बेचारी रात पर आफ़त आ गयी। इस दशा में वह कैसे ठहर सकती थी। निरुपाय होकर वह भाग चली। रह गयी दिन और रात की संधि, अर्थात् प्रातःकालीन संध्या। सो अरुण कमलों ही को आप इस अल्पवयस्क सुता-सदृश संध्या के लाल-लाल और अतिशय कोमल हाथ-पैर समझिए। मधुप-मालाओं से छाये हुए नील कमलों ही को काजल लगी हुई उसकी आँखें जानिए। पक्षियों के कल-कल शब्द ही को उसकी तोतली बोली अनुमान कीजिए। ऐसी संध्या ने जब देखा कि रात इस लोक से जा रही, तब पक्षियों के कोलाहल के बहाने यह कहती हुई कि "अम्मा, मैं भी आती हूँ", वह भी उसी क पीछे दौड़ गयी।

अंधकार गया, रात गयी, प्रातःकालीन संध्या भी गयी। विपक्षिदल के एकदम ही पैर उखड़ गये। तब, रास्ता साफ देख, वासरविधाता भगवान भास्कर ने निकल आने की तैयारी की। कुलिशपाणि इन्द्र की पूर्व दिशा में, नये सोने के समान, उनकी पीली-पीली किरणों का समूह छा गया। उनके इस प्रकार आविर्भाव से एक अजीब ही दृश्य दिखायी दिया। आपने बड़वानल का नाम तो सुना ही होगा। वह एक प्रकार की आग है, जो समुद्र के जल को जलाया करती है। सूर्य के उस लाल-पीले किरण समूह को देखकर ऐसा मालूम होने लगा

जैसे वही बड़वाग्नि समुद्र की जल-राशि को जलाकर, त्रिभुवन को भस्म कर डालने के इरादे से, समुद्र के ऊपर उठ आयी हो, धीरे-धीरे दिननाथ का बिंब क्षितिज के ऊपर आ गया । तब एक और ही प्रकार के दृश्य के दर्शन हुए । ऐसा मालूम हुआ, जैसे सूर्य का वह बिंब एक बहुत बड़ा घड़ा है, और दिग्वधुएँ जोर लगाकर समुद्र के भीतर से उसे खींच रही हैं । सूर्य की किरणों ही को आप लंबी-लंबी मोटी रस्सियाँ समझिए । उन्हीं से उन्होंने बिंब को बाँध-सा दिया है, और खींचते वक्त, पक्षियों के कलरव के बहाने, वे यह कह-कहकर शोर मचा रही हैं कि खींच लिया है; कुछ ही बाकी है, ऊपर आना ही चाहता है; जरा और जोर लगाना ।

दिगंगनाओं के द्वारा खींच-खाँचकर किसी तरह सागर की सलिल-राशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्य बिंब चमचमाता हुआ लाल-लाल दिखायी दिया । अच्छा, बताइए तो सही, यह इस तरह का क्यों है ? हमारी समझ में तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब यह पड़ा था, तब बड़वाग्नि की ज्वाला ने इसे तपाकर खूब दहकाया होगा । तभी तो खैर (खदिर) के जले हुए कुंदे के अंगार के सदृश लालिमा लिये हुए यह इतना शुभ्र दिखायी दे रहा है । अन्यथा, आप ही कहिए, इसके इतने अंगार गौर होने का और क्या कारण हो सकता है ?

सूर्यदेव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ़ के लायक है । तरफ़दारी तो उसे छू-तक नहीं गयी—पक्षपात की तो गंध तक उसमें नहीं, देखिए न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ; पर क्षण ही भर में उसने अपने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नहीं, प्रत्युत सभी पर्वतों के शिखरों पर फैलाकर उन सब की शोभा बढ़ा दी । उसकी इस उदारता के कारण इस समय ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरों—अपने मस्तकों—पर दुपहरिया के लाल-लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों । सच है, उदारशील

सज्जन अपने चारुचरितों से अपने ही उदय-देश को नहीं, अन्य देशों को भी आप्यायित करते हैं।

उदयाचल के शिखर रूप आँगन में बालसूर्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मिनियों को बड़ा प्र[illegible] हुआ। सुन्दर बालक को आँगन में जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। अतएव उन्होंने अपने कलम-मुख के विकास के बहाने हँस-हँसकर उसे बड़े ही प्रेम से देखा। यह दृश्य देखकर माँ के सदृश अंतरिक्ष देवता का हृदय भर आया। वह पक्षियों के कलरव के मिस बोल उठी—आ जा, आ जा; आ बेटा, आ; फिर क्या था; बालसूर्य बाललीला दिखाता हुआ, झट अपने मृदुल कर (किरणें) फैलाकर, अंतरिक्ष की गोद में कूद गया। उदयाचल पर उदित होकर जरा ही देर में वह आकाश में आ गया।

आकाश में सूर्य के दिखायी देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटों या कगारों के बीच से बहते हुए जल पर सूर्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पड़ी, तो वह जल परिपक्व मदिरा के रंग सदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा, जैसे सूर्य ने किरण-बाणों से अंधकाररूपी हाथियों की [illegible]टा को सर्वत्र मार गिराया हो; उन्हीं के घावों से निकला हुआ रुधिर बह कर नदियों में आ गया हो; और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो। कहिये, यह सूझ कैसी है? बहुत दूर की तो नहीं?

तारों का समुदाय देखने में बहुत भला मालूम होता है, यह सच है। यह भी सच है कि भले आदमियों को न कष्ट ही देना चाहिए, और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना—हटाना ही—चाहिए। परन्तु सूर्य का उदय अन्धकार का नाश करने ही के लिए होता है, और तारों की श्री-वृद्धि अंधकार ही की बदौलत है। इसी से लाचार होकर सूर्य को अंधकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पड़ा—उसे उनको भी जबरदस्ती निकाल बाहर करना पड़ा। बात यह है

कि शत्रु की बदौलत ही जिन लोगों को संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है, उनको भी मार भगाना ही पड़ता है—शत्रु के साथ ही उनका भी विनाश-साधन करना ही पड़ता है। न करने से भय का कारण बना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्योदय होते ही अंधकार भयभीत होकर भागा। भागकर वह कहीं गुहाओं के भीतर और कहीं घरों के कोनों और कोठरियों के भीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुज़ारा न हुआ। सूर्य यद्यपि बहुत दूर आकाश में था, तथापि उसके प्रबल तेज:प्रताप ने छिपे हुए अंधकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला ही नहीं, अपितु उसका सर्वथा नाश भी कर दिया। बात यह है कि तेजस्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में रह कर भी वे अपने प्रताप की धाक से दूर-स्थित शत्रुओं का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा, ये दोनों ही आकाश की दो आँखों के समान हैं। उनमें से सहस्रकिरणात्मक-मूर्तिधारी सूर्य ने ऊपर उठकर जब अशेष लोकों का अंधकार दूर कर दिया, तब वह खूब ही चमक उठा। उधर बेचारा चन्द्रमा किरण-हीन हो जाने से बहुत ही धूमिल हो गया। इस तरह आकाश की एक आँख तो खूब तेजस्क और दूसरी तेजोहीन हो गयी। अतएव ऐसा मालूम हुआ, जैसे एक आँख, प्रकाशवती और दूसरी अंधीवाला आकाश काना हो गया हो।

कुमुदिनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का समूह शोभा-संपन्न। उलूकों को तो शोक ने आ घेरा और चक्रवाकों को अत्यानन्द ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया और चन्द्रमा अस्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है। दुष्ट दैव की चेष्टाओं का परिपाक कहते नहीं बनता। वह बड़ा ही विचित्र है। किसी को तो वह हँसाता है, किसी को रुलाता है।

सूर्य को आप दिग्वधुओं का पति समझ लीजिए, और यह भी

समझ लीजिए कि पिछली रात वह कहीं और किसी जगह, अर्थात् विदेश, चला गया था। मौक़ा पाकर, इसी बीच, उसकी जगह पर चन्द्रमा आ विराजा। पर ज्यों ही सूर्य अपना प्रवास समाप्त करके सवेरे, पूर्व दिशा में फिर आ धमका, त्योंही उसे देख चन्द्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो ? और कोई उपाय न देख, अपने किरण-समूह को कपड़े-लत्ते के सदृश छोड़, उपपति के समान गर्दन झुकाकर वह पश्चिम-दिशारूपी खिड़की के रास्ते निकल भागा।

महामहिम भगवान मधुसूदन जिस समय कल्पांत में समस्त लोकों का प्रलय, बात की बात में, कर देते हैं, उस समय अपनी समधिक अनुरागवती श्री (लक्ष्मी) को धारण करके—उन्हें साथ र— क्षीर-सागर में अकेले ही जा विराजते हैं। दिन चढ़ आने पर नामय भगवान भास्कर भी, उसी तरह एक क्षण में, सारे तारा-लोक का संहार करके, अपनी अतिशायिनी श्री (शोभा) के सहित, क्षीर-सागर ही के समान आकाश में, देखिए, अब यह अकेले ही मौज कर रहे हैं।

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रश्न-अभ्यास

१. 'महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन' नामक निबंध की विशेषताएँ समझाइए।
२. प्रस्तुत निबंध की शैलीगत विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।
३. प्रकृति के मानवीकरण की दृष्टि से प्रस्तुत निबंध पर विचार कीजिए।
४. सूर्योदय के विकास क्रम के साथ विभिन्न रसों की निष्पत्ति का वर्णन कीजिए।
५. समास-बहुल, संस्कृत-शब्दावली के कारण निबन्ध के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है, इस मत से आप कहाँ तक सहमत हैं ?
६. निम्नलिखित शब्दों में विग्रह सहित समास लिखिए :
सुता-सदृश, मधुप-मालाओं, जानु-पाणि, किरण-हीन।
७. लेखक की दृष्टि में सूर्य-बिंब के रक्तिम वर्ण होने का क्या कारण है ?
८. लेखक ने सूर्योदय का किन-किन रूपों में वर्णन किया है ?

श्यामसुन्दर दास (सन् १८७५-१९४५)

इनका जन्म काशी में हुआ था। इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के रूप में इनकी सेवा स्तुत्य है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के निर्माण में इनका सराहनीय योगदान रहा। हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए इन्होंने जो कार्य किया वह सदा स्मरणीय रहेगा। इनकी हिन्दी सेवाओं के लिए इनको राय बहादुर, साहित्य वाचस्पति और डि० लिट्० की उपाधियाँ मिलीं।

१. **साहित्यालोचन**, २. **हिन्दी कोविदमाला**, ३. **रूपक रहस्य**, ४. **भाषा-रहस्य**, ५. **भाषा-विज्ञान**, ६. **हिन्दी भाषा और साहित्य**, ७. **गोस्वामी तुलसीदास** ८. **साहित्यिक लेख**, ९. **मेरी आत्म-कहानी**, और १०. **हिन्दी-साहित्य-निर्माता** इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

बाबू साहब ने अत्यन्त गंभीर विषयों को बोधगम्य शैली में प्रस्तुत किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का भी यथेष्ट प्रयोग करके इन्होंने शैली को दुरूह बनने से बचाया है। इनकी शैली में सुबोधता, सरलता और विषय-प्रतिपादन की निपुणता है। इनके वाक्य-विन्यास जटिल और दुर्बोध नहीं हैं। इनकी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों तथा मुहावरों का प्रायः अभाव है। व्यंग्य, वक्रोति तथा हास-परिहास से इनके निबंध प्रायः शून्य हैं। विषय-प्रतिपादन के अनुरूप इनकी शैली में वैज्ञानिक पदावली का समीचीन प्रयोग हुआ है। इनके निबंधों में प्रांजलता और परिमार्जन का तो अभाव नहीं हैं किन्तु सरस प्रवाह और भाषा की स्निग्धता से इनके निबंध वंचित हैं।

हिन्दी भाषा को सर्वजन सुलभ, वैज्ञानिक और समृद्ध बनाने में इनका योगदान अप्रतिम है। इन्होंने संपादक, निबंधकार तथा आलोचक के रूप में हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। इन्होंने विचारात्मक, गवेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियों का व्यवहार किया है। आलोचना, भाषा-विज्ञान, भाषा का इतिहास, लिपि का विकास आदि विषयों पर इन्होंने वैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया है।

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने भारतीय साहित्य की विशेषताओं का वर्णन किया है। पहली विशेषता समन्वय की है। भारतीय दर्शन में परमात्मा तथा जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं माना जाता। लेखक के अनुसार इसी दार्शनिक मान्यता के आधार पर कला व साहित्य में समन्वय का आदर्श प्रमुख बना। दूसरी विशेषता धार्मिक भावों की प्रचुरता है। इस दूसरी विशेषता के कारण लौकिक जीवन की अनेकरूपता प्रदर्शित न हो सकी। इन दो मुख्य विशेषताओं के अतिरिक्त देश की जलवायु और भौगोलिक स्थिति का भी साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। जातिगत तथा देशगत विशेषताओं की ओर लेखक ने ध्यान आकृष्ट करते हुए इनका प्रभाव साहित्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष पर स्पष्ट किया है। सम्पूर्ण निबन्ध में लेखक ने आलोचनात्मक दृष्टि अपनायी है।

———

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण और आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखायी देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गये हैं, पर सबका अवसान आनन्द में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ पाश्चात्य प्रणाली के दुखांत नाटक इसीलिए नहीं दीख पड़ते। यदि आजकल दो-चार नाटक

ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और पाश्चात्य आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलम्बों की इतिश्री हो चुकी थी। फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

"भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है,
विनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुना वारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत-भिजई है,
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृति-सेन हारत जितई है।"

आनन्द की कितनी महान् भावना है! चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना में मानों नाच उठता है। हिन्दी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था; परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का भी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में यद्यपि पाश्चात्य आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों को देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है, तथापि जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखने वाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखायी पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति उस समय की है, जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पंजरमात्र ही रहे होंगे; पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं; उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो उठती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनन्दस्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य हैं। माया अज्ञान उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन होता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है; अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचार-विचार तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद, तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गंभीर

विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव-साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गयीं, परन्तु उनमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना आध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गयी; परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गयी है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरल तथा सुन्दर साहित्य की सृष्टि हुई, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष घुस जाते हैं, तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है, हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं, एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा कृष्ण का आधार लेकर की हुई हिन्दी की शृंगारी कविताओं के रूप में। हिन्दी में साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं, तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली के कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है।

राधाकृष्ण को लेकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर नहीं हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारी कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो ; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, आगे चलकर लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना-मूलक प्रेम में परिणत हो गया।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंगलैण्ड तथा आयरलैण्ड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा विस्तृत भूखण्ड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से जो सम्बन्ध होता है, उसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताएँ कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उस पर भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ

विशेष प्रकार से रमती हैं । अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ से लंबे-लंबे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं ; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है ; अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य तो क्या, उल्टे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा । भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है । वे हरे-भरे उपवनों तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं । यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं ; वैसा रूखे-सूखे देश के निवासी कवि नहीं कर सकते । यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौन्दर्य-ज्ञान उच्च कोटि का होता है ।

प्रकृति के रम्य रूपों में तल्लीनता की जो अनुभूति होती है उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं । यह अखंड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि, अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं ! इनके सृष्टि-संचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं । काव्य-जगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता ; अतः कविगण

बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उसमें भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखायी देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संगठन अथवा छन्द-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं। परन्तु साधारणतः हम देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अंग्रेजी में इस विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस

अभिव्यंजन के ढंग में अन्तर रहता है। एक वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं, दूसरी में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की कमी पायी जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा। साथ ही भारतीय संगीत-शास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर, मात्रिक अथवा लघु-मात्रिक आदि छन्द-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं। दूसरे इनका सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से उतना अधिक नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं दीख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पायी जाती हैं।

—श्यामसुन्दर दास

प्रश्न-अभ्यास

१. भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
२. साहित्यिक समन्वय से लेखक का क्या तात्पर्य है ?
३. इस निबन्ध के आधार पर निबन्धकार की निम्नलिखित उक्ति को सिद्ध कीजिए :—
"भारतीय साहित्य धर्म से प्रभावित है।"

४. "प्रकृति का संश्लिष्ट और सजीव चित्रण ही भारतीय साहित्य को अन्य देशों के साहित्य से भिन्न करता है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

५. भारतीय नाटकों का अवसान आनन्द में ही क्यों किया जाता है ?

६. भारतीय साहित्य में प्रकृति का प्रभाव किन-किन रूपों में दृष्टिगत हो रहा है ?

७. भावपक्ष और कलापक्ष का क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिए।

८. कविता के व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत भेदों का उल्लेख करते हुए सिद्ध कीजिए कि इस दृष्टि से भारतीय साहित्य अंग्रेजी साहित्य से किस प्रकार भिन्न है ?

९. निम्नलिखित शब्दों में समास बताइए :—
घात-प्रतिघात, वसन्त-श्री, सृष्टि-संचालक।

१०. निम्नलिखित शब्दों का आशय स्पष्ट कीजिए :—
जातीय-साहित्य, देशगत-साहित्य, सामान्य तथा विशेष धर्म।

११. अधोलिखित वाक्यों की व्याख्या कीजिए :—
(क) आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य है।
(ख) यद्यपि आदर्श की कल्पना——कर लेते हैं।
(ग) भारत की शस्यश्यामला——रहा है।

१२. उपर्युक्त निबन्ध के आधार पर श्यामसुन्दर दास की गद्य-शैली की विशेषताएँ बताइए।

———

सरदार पूर्णसिंह (सन् १८८१-१९३१)

सरदार पूर्णसिंह द्विवेदी-युग के श्रेष्ठ निवन्धकार हैं। इनका जन्म सीमा प्रान्त (जो अब पाकिस्तान में है) के एवटाबाद जिले के एक गाँव में सन् १८८१ में हुआ था। इनकी आरंभिक शिक्षा रावलपिंडी में हुई थी। हाई स्कूल उत्तीर्ण करने के बाद ये लाहौर चले गये। लाहौर के एक कालेज से इन्होंने एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद एक विशेष छात्रवृत्ति प्राप्त कर सन् १९०० में रसायन शास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए ये जापान गये और वहाँ इम्पीरियल यूनिवर्सिटी में अध्ययन करने लगे। जब जापान में होने वाली 'विश्व धर्म सभा' में भाग लेने के लिए स्वामी रामतीर्थ वहाँ पहुंचे तो उन्होंने वहाँ अध्ययन कर रहे भारतीय विद्यार्थियों से भी भेंट की। इसी क्रम में सरदार पूर्णसिंह से स्वामी रामतीर्थ की भेंट हुई। स्वामी रामतीर्थ से प्रभावित होकर इन्होंने वहीं संन्यास ले लिया और स्वामीजी के साथ ही भारत लौट आये। स्वामीजी की मृत्यु के बाद इनके विचारों में परिवर्तन हुआ और इन्होंने विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करना आरंभ किया। इनको देहरादून के इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीट्यूट में ७०० रु० महीने की एक अच्छी नौकरी मिल गयी। ये स्वतंत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे इसलिए इस नौकरी को निभा नहीं सके और अंत में इस्तीफा देकर अलग हो गये। इसके बाद ये ग्वालियर गये। वहाँ इन्होंने सिक्खों के दस गुरुओं और स्वामी रामतीर्थ की जीवनियाँ अंग्रेजी में लिखीं। ग्वालियर में भी इनका मन नहीं लगा। तब ये पंजाब के जड़ावाला स्थान में जाकर खेती करने लगे। खेती में घाटा हुआ और ये अर्थ-संकट में पड़कर नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकने लगे। मार्च सन् १९३१ में इनकी मृत्यु हो गयी। इनका संबंध क्रांतिकारियों से भी था। 'देहली षड़यंत्र' के मुकदमे में मास्टर अमीरचंद के साथ इनको भी पूछताछ के लिए बुलाया गया था किन्तु इन्होंने मास्टर अमीरचंद से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध होना स्वीकार नहीं किया। प्रमाण के अभाव में इनको छोड़ दिया गया। वस्तुतः मास्टर अमीरचंद स्वामी रामतीर्थ के परमभक्त

और इनके गुरुभाई थे। प्राणों की रक्षा के लिए इन्होंने न्यायालय में झूठा बयान दिया था। इस घटना का इनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। भीतर-भीतर ये पश्चाताप की अग्नि में जलते रहते थे। इस कारण भी ये व्यवस्थित जीवन व्यतीत नहीं कर सके और हिन्दी-साहित्य की एक बड़ी प्रतिभा पूरी शक्ति से हिन्दी की सेवा नहीं कर सकी।

सरदार पूर्णसिंह के हिन्दी में कुल छः निबंध उपलब्ध हैं। **१. सच्ची वीरता, २. आचरण की सभ्यता, ३. मजदूरी और प्रेम, ४. अमेरिका का मस्त योगी वॉल्ट ह्विटमैन, ६ कन्यादान** और **६. पवित्रता**। इन्हीं निबन्धों के बल पर इन्होंने हिन्दी गद्य साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थायी स्थान बना लिया है। अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय इनकी जीवन-दृष्टि की प्रमुख विशेषता है। इन्होंने निबंध रचना के लिए मुख्य रूप से नैतिक विषयों को ही चुना है। इनके निबंध भावात्मक कोटि में आते हैं। उनमें भावावेग के साथ ही विचारों के सूत्र भी लक्षित होते हैं जिन्हें प्रयत्नपूर्वक जोड़ा जा सकता है। ये प्रायः मूल विषय से हटकर उससे संबंधित अन्य विषयों की चर्चा करते हुए दूर तक भटक जाते हैं और फिर स्वयं सफाई देते हुए मूल विषय पर लौट आते हैं। उद्धरण-बहुलता और प्रसंग-गर्भत्व इनकी निबंध-शैली की विशेषता है। इनकी निबंध-शैली पर भाषण-शैली का प्रभाव है। आपकी भाषा प्रवाहमयी और लाक्षणिक है। इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और मानवीय कल्याण-भावना से भावित है। इनके व्यक्तित्व की ओजस्विता इनके निबन्धों में व्यंजित है। इनके निबन्ध इनकी मनोलहरी से जुड़े हैं और ये सच्चे अर्थों में एक आत्मव्यंजक निबन्धकार कहे जा सकते हैं।

इनकी निबन्ध-शैली अनेक दृष्टियों से निजी शैली है। इनके विचार भावुकता की लपेट में लिपटे हुए होते हैं। कहीं ये कवित्व की ओर मुड़ जाते और कहीं उपदेशक से प्रतीत होते हैं। कहीं इनकी वाणी के पटल पर समाज के मार्मिक चित्र उभर आते हैं और कहीं प्रकृति के मनोरम दृश्य। विचारों और भावनाओं के क्षेत्र में ये किसी सम्प्रदाय से बँधकर नहीं चलते। इसी प्रकार शब्द-चयन में भी ये अपने स्वच्छन्द स्वभाव को प्रकट करते हैं। इनका एक ही धर्म है मानववाद और एक ही भाषा है हृदय की भाषा। सच्चे मानव की खोज और सच्चे हृदय की भाषा की तलाश ही इनके साहित्य का लक्ष्य है।

प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने आचरण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। लेखक की दृष्टि में लम्बी-चौड़ी बातें करना, बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखना और दूसरों को उपदेश देना तो आसान है किन्तु ऊँचे आदर्शों को आचरण में उतारना अत्यन्त कठिन

है। जिस प्रकार हिमालय की सुन्दर चोटियों की रचना में प्रकृति को लाखों वर्ष लगाने पड़े हैं उसी प्रकार समाज में सभ्य आचरण को विकसित करने में मनुष्य को लाखों वर्षों की साधना करनी पड़ती है। जनसाधारण पर सबसे अधिक प्रभाव सभ्य आचरण का ही पड़ता है। इसलिए यदि हमें पूर्ण मनुष्य बनना है तो अपने आचरण को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाना होगा। आचरण की सभ्यता न तो बड़े-बड़े ग्रन्थों से सीखी जा सकती है और न ही मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों से। उनका खुला खजाना तो हमें प्रकृति के विराट् प्रांगण में मिलता है। आचरण की सभ्यता का पैमाना है परिश्रम, प्रेम और सरल व्यवहार। इसलिए हमें प्रायः श्रमिकों और सामान्य दीखने वाले लोगों में उच्चतम आचरण के दर्शन प्राप्त हो जाते हैं।

———

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कङ्गाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है! राग अधिक मृदु होता है; विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है; वक्ता चुप हो जाता है; लेखक की लेखनी थम जाती है; मूर्ति बनानेवाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे नाम, बे निशान, बे मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है।

इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाते हैं। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के काले बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद् ऋतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनन्द का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुन्दरता को पिरो देता है! वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मंद-मंद हँसी का तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी रात एक क्षण की तरह गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखने वाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से; न अंजील से; न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्सङ्ग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोट की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और अति गौरवान्वित मालूम होता है; परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराये हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में मिट्टी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनन्त काल लगा है। पृथ्वी बन गयी, सूर्य्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे; परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखायी देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिये जाँय तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश के रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्म-वाणी हैं, परन्तु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-

भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मन्त्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के दिल में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परन्तु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमाञ्च हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जाँय; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जाँय—परन्तु अंगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए रामरोला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गयी चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मंदिर और हर मसजिद में होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव तभी हम पर पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है—मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए—चाहे वह कन्या जिस जाति की हो, जिस किसी मनुष्य की हो, जिस किसी देश की हो—अपने आप को गंगा में फेंक दे—चाहे उसके प्राण यह काम करने में रहें चाहे जाँय—तो इस कार्य में प्रेरक आचरण की मौनमयी

भाषा किस देश में, किस जाति में और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता ? प्रेम का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु क्या मनुष्य—जगत् के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिम्ब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं। जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं, जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्म अपवित्रता में लिप्त रहे हों ? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक यह जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते

ऊपर नहीं निकल आये, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनाता है, हममें कहाँ ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें ? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें। कोई भी सम्प्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान हैं, उन सबकी (सबका ?) क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संघटनकर्त्ता धर्म के अङ्ग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनायी हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाये हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक मुझे यदि ईश्वर का ज्ञान नहीं तो नहीं होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किये जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का भान नहीं होता तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा ही होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो–बरफ हो–बिजली की कड़क हो–समुद्र का तूफान हो–वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है, परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाये कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मन्दिर में, न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ, न संध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। तो इससे प्रयोजन ही क्या और इससे हानि भी क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूँ, अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ, मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पत्तियों की सङ्गति में गुजरता है, आकाश के बादलों को देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ, यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है, मेरा घर अन्न

से भरा है, बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिए लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान हैं, शरीर मेरा अरोग्य है, भूख खूब लगती है, बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों को खाने के लिए मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य, सङ्गीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लम्पटता ने जङ्गल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दण्ड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र जंगल और पर्वत से सम्बन्ध रखने वाले जीवन से ही प्राप्त किया। जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होने वाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं, केवल धर्म ही जाति की उन्नति करता है। यह ठीक है, परन्तु यह धर्मांकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पापमय जीवन की गंदी राख के ढेरे के ऊपर नहीं उगता है। मन्दिरों और गिरजों की मन्द-मन्द, टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन जिसको देशदेशान्तरों को ढूँढ़ते-फिरते रहने के बिना शान्ति नहीं मिलती; जिसकी अन्तर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मन्द नहीं पड़ती—केवल वहीं विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दल कर और पहाड़ों को फाँद कर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा

रहा है। राबिनहुड की प्रशंसा में इंगलैण्ड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए, क्योंकि राबिनहुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान —गोले, बारूद, जंगीजहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसमें वह प्रकाश और वायु में सदा खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत-से हाथ एक अनन्त प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाये बिना—सारी प्रकृति को हवा में उड़ाये बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है? समुद्रों में डोरा डाल कर अमृत निकाला है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे-बिठाये भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्बन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनमें भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहङ्कार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी

जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है, परन्तु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरप में, सभी असभ्य थे, परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रङ्ग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरण वाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता। गङ्गा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी, को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठ कर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी-बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में ही बैठकर धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी वह स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के

शुद्धचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ प्रकृति का नाम नहीं, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनायी देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, वहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए भेजा है कि सरस्वती में चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

—सरदार पूर्णसिंह

प्रश्न-अभ्यास

१. आचरण की सभ्यता से आप क्या समझते हैं ? इस पाठ का संक्षेप अपने शब्दों में प्रस्तुत कीजिए।

२. निम्नलिखित सूत्र-वाक्यों की व्याख्या कीजिए :—

(क) आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है।

(ख) प्रेम की भाषा शब्द रहित है।
(ग) आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है।
(घ) पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती हैं, जितनी कि पवित्र पवित्रत।
(ङ) राजा में फकीर छिपा हुआ है और फकीर में राजा।

३. बुद्धदेव, ईसा और महाप्रभु चैतन्य कौन थे ? आचरण की सभ्यता से इनका क्या सम्बन्ध था ?

४. निम्नलिखित गद्य-खंडों की संदर्भ-सहित व्याख्या कीजिए :—
(क) 'आचरण की सभ्यतामय भाषा·········आत्मा का एक अंग हो जाता है।'
(ख) 'मौनरूपी व्याख्यान·········आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है।'
(ग) 'कोई भी सम्प्रदाय आचरण-रहित·········गौरवान्वित नहीं करता।'
(घ) 'आचरण की सभ्यता का देश······एकता का अखंड राज्य रहता है।'
(ङ) 'जिस समय आचरण की सभ्यता·········धुन प्रारम्भ हो जाती है।'

५. लक्षणा शक्ति से आप क्या समझते हैं ? उदाहरण द्वारा प्रमाणित कीजिए कि सरदार पूर्णसिंह की भाषा लाक्षणिक है।

६. निबंध में आत्म-व्यंजना का क्या महत्त्व है ? क्या आचरण की सभ्यता को आत्म-व्यंजक निबंध कह सकते हैं ?

७. 'अध्यापक पूर्णसिंह अपने निबन्धों में विदेशी शब्दों को बेझिझक ग्रहण करते हैं लेकिन उससे निबन्ध के प्रवाह में अवरोध नहीं उत्पन्न होता।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

८. 'आचरण का विकास जीवन का परम उद्देश्य है' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

———

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सन् १८८४-१९४१)

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के 'अगोना' ग्राम में सन् १८८४ में हुआ था। इनके पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल मिर्जापुर में सदर कानूनगो थे। शुक्ल जी की प्रारंभिक शिक्षा मिर्जापुर के जुबिली स्कूल में हुई। सन् १९०१ में इन्होंने लंदन मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा पास की। आगे पढ़ने के लिए शुक्लजी ने इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में नाम लिखाया किन्तु गणित में कमजोर होने के कारण एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण न कर सके। इसके पश्चात् उन्होंने 'प्लीडरशिप' की परीक्षा पास करनी चाही किन्तु इसमें भी इनको सफलता न मिल सकी। मिर्जापुर के तत्कालीन कलेक्टर विंढम साहब की कृपा से इनको अंग्रेजी आफिस में २० रु० मासिक की नौकरी मिल गयी। कुछ ही दिनों बाद इन्होंने यह नौकरी छोड़ दी। सन् १९०८ में ये मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर नियुक्त हुए। हिन्दी साहित्य के प्रति उनके मन में प्रारंभ से ही अनुराग था। मिर्जापुर में उनको अन्य विषयों के साथ हिन्दी के अध्ययन की भी प्रेरणा मिली। यहाँ उनको पं० केदारनाथ पाठक, श्री रामगरीब चौबे, श्री काशीप्रसाद जायसवाल, पं० बदरीनाथ गौड़ आदि समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों की एक अच्छी खासी मित्र-मंडली मिल गयी थी। यहाँ रहते हुए उन्होंने 'आनंद कादम्बिनी' के संपादन में भी सहयोग दिया। पं० केदारनाथ पाठक से उनको हिन्दी की पुस्तकें प्राप्त करने में विशेष सहायता मिली थी। सन् १९१० तक उनकी गणना जाने-माने लेखकों में होने लगी थी। इसी वर्ष शुक्लजी की नियुक्ति 'हिन्दी शब्द-सागर' में काम करने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में हुई। कोश का कार्य समाप्त होते-होते उनकी नियुक्ति हिन्दू विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक के पद पर हो गयी। सन् १९३७ में बाबू श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने पर वे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बनाये गये। माघ सुदी ६, रविवार, संवत् १९९८ (२ फरवरी सन् १९४१) की रात्रि ९ बजे के लगभग श्वाँस का दौरा पड़ने से उनकी हृदय गति सहसा रुक गयी और हिन्दी का गौरव सूर्य रात्रि के अंधकार में डूब गया।

आचार्य शुक्ल ने कविता, कहानी, अनुवाद, निबंध, आलोचना, कोश-निर्माण, इतिहास-लेखन आदि अनेक क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। किन्तु उनकी सर्वाधिक ख्याति निबंध लेखक और आलोचक के रूप में है। उनकी प्रमुख गद्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **हिन्दी साहित्य का इतिहास**
(२) **जायसी ग्रंथावली**
(३) **तुलसीदास**
(४) **सूरदास**
(५) **चिन्तामणि भाग १, भाग २**
(६) **रस मीमाँसा**

निबंध लेखक के रूप में आचार्य शुक्ल अपने मनोवैज्ञानिक और काव्यशास्त्रीय निबंधों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने **उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध** आदि मनोविकारों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। **काव्य में प्राकृतिक दृश्य, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद** आदि उनके काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखे गये निबंध हैं।

आचार्य शुक्ल की निबंध शैली मुख्यरूप से 'विचारात्मक' है। बीच-बीच में भावात्मक स्थल अवश्य मिल जाते हैं। व्यंग्य और हास्य के छींटे भी उनके निबंधों में विद्यमान हैं। उनके व्यंग्य साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण हैं। विचारों की सघनता के कारण प्रायः शुक्लजी ने सूत्रशैली का प्रयोग भी किया है। मनोविकारों पर लिखते हुए उन्होंने उनके मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और नैतिक तीनों ही पक्षों पर ध्यान रखा है। पहले संक्षेप में, मनोविकार-विशेष को परिभाषित करना, फिर उससे मिलते-जुलते मनोविकार से उसका पार्थक्य दिखाना और अंत में जीवन में उसके महत्त्व और प्रभाव की व्याख्या करना आचार्य शुक्ल जी की लेखन-पद्धति की विशेषता है। आचार्य शुक्ल के निबंधों को पूर्णतः आत्मव्यंजक नहीं कहा जा सकता; वे हल्की मनःस्थिति में नहीं लिखे गये हैं। वे उनके गंभीर चिन्तन के परिणाम हैं। इन निबंधों के लेखन क्रम में उनकी बुद्धि ही प्रधान रूप से सक्रिय रही है, हृदय तो यात्रा का सहचर मात्र रहा है।

प्रस्तुत निबंध में 'करुणा' का साहित्यिक शैली में मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। दूसरों के दुःख से दुःखी होने का भाव ही 'करुणा' है। इसलिए यह

दु:खात्मक वर्ग में आने वाला मनोविकार है। करुणा से द्रवीभूत होकर ही मनुष्य दु:खियों की सहायता करता है। इसीलिए सदाचार और शील का आधार करुणा ही है। इसीलिए करुणा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवेग माना जाता है। कभी-कभी करुणा न्याय के निर्वाह में बाधक होती है। न्याय, सम्पन्न एवं सुखी तथा विपन्न और दु:खी में भेद नहीं करता। असहाय और दु:खी अपराधी के प्रति करुणा उत्पन्न होने पर न्यायकर्त्ता अपनी ओर से उसकी सहायता की व्यवस्था करके न्याय और करुणा दोनों का पालन कर सकता है। करुणा संत का सौदा नहीं है। उसके लिए त्याग आवश्यक है।

———
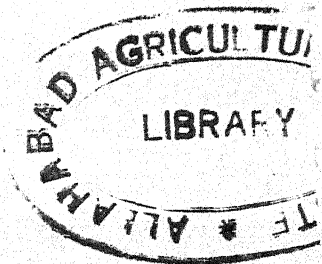
करुणा

जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले परखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ-मूठ 'ऊँ-ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उनके किसी भी भाई या बहिन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रखी गयी है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे पर दुख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनन्द की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति

या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभाल कर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया, पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके सुख और दुःख का बहुत सा अंश दूसरे की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है क्या उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिए बन्द नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है; यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है, हमारी दया दूर या कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध या अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी या अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है।

सारांश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान या चरित्रवान होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता।

इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनन्द होता है इसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उनमें वेग या प्रेरणा होती है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तो जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित रहते हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोलीभाली सुन्दरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बन्धु को दुःख में देख, हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की तीव्रता का सापेक्ष विधान जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से समझना चाहिए।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आयेगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य के साधन हों वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन

और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अन्तःकरण वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा या अनुग्रह में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतीकार है। दूसरी बात यह कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील या साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करने वाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दुःखशीलता या दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह किसी अवसर पर बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे।

मेरे विचार में तो सदा सत्य बोलना, बड़ों का कहना मानना, ये नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि

के बहाने संसार में बहुत-सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गयी है, विशेषतः जब इस नियम-भंग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध-धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गयी है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विक शील ही होता है। अतः करुणा और सात्त्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाले प्राणियों की आदि अन्तःकरण-वृत्ति मन या मनोवेग है। अतः इन मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक को

चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषयमात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करने वाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है उसमें कभी-कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की भावना किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अतः प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारणजनों के वास्तविक दुःख के परिज्ञान से होती है, वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारणजनों का तो हमें दुःख असह्य होता है, पर प्रिय जनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दुःख या करुणा को किसी-किसी प्रान्तिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती है—

वन को निकरि गये दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौ बरसै, पवन चले पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई।

(गीतावली)

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये जहाँ सब प्रकार का सुख वैभव था; पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि—

प्रात समय उठ माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगे लैहै ?

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी सन्देह करती है कि—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कुछ होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय।।

शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दुःख या कष्ट आदि की कोई भावना नहीं रहती।

जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके संसार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के एक अंग का खण्डित हो जाना है। किसी प्रिय या सुहृद के चिर वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छा-पूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत

अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखायी देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन को स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से की जाती है।

दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी सम्भावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे, सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है। वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता लोग ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक समाजशास्त्र के वक्ता बतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे, मुसण्डे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिल्कुल उल्टा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि

परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहारक्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।

करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखायी गयी है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवकों के प्रेम में फँस गयी हैं। कोमल भावों की योजना में दक्ष बंगला के उपन्यास लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यन्त संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों से प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देशकाल-संबंधी विस्तार बढ़ाता है। प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोविकारों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है, पर जब हम सुनते हैं कि कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इससे

आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तो हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक हैं अर्थात् प्रकारान्तर से वे उसके लिए विषय उपस्थित करते हैं। वे कभी तो आप से आप विषयों को मन के सामने लाते हैं, कभी किसी विषय के सामने आने पर उससे सम्बन्ध (पूर्वापर व कार्य-कारण सम्बन्ध) रखने वाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब के सब एक ही भाव के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भाव को तीव्र करते हैं; कभी भिन्न-भिन्न भावों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भावों को परिवर्तित या धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों को मन्द या दूर करने वाली, स्मृति अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अन्तःकरण वृत्ति नहीं है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न सच्चा है। जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि, आदि के रहते भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों के मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है।

वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनन्दित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा

होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी के मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है। उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाषण्डी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आनन्द छोड़ो। बस, हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात ; पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले-ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी ; पर जब बार-बार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा ; यहाँ तक कि उसकी दया की वृत्ति ही मारी जायगी।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिसमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता। पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है।

जीवन में मनोवेगों के अनुसार परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो

आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक प्रकट नहीं होने देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पायें तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिंचन को देख जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखायी पड़ता, करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १,००० रु० उधार लिये तो न्याय यह है कि वह हमें १,००० रु० लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १,००० रु० लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता, गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है, उसको

है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १,००० रु० अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामले में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रश्न-अभ्यास

१. पठित निबंध के आधार पर करुणा का महत्त्व समझाइए।

२. 'मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

३. करुणा और वियोग-जनित दुःख का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

४. करुणा और सहानुभूति में क्या अन्तर है ?

५. न्याय और करुणा का परस्पर विरोध क्यों है ? समाज के लिए दोनों में से कौन अधिक उपयोगी है ?

६. निम्नलिखित सूत्रवाक्यों की व्याख्या कीजिए :—

(क) 'मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है।'

(ख) 'सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।'

(ग) 'करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है।'

(घ) 'अनुसारी परिणाम के अभाव में मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है।'

७. करुणा का भाव सुखात्मक है या दुखात्मक ? सुखात्मक वर्ग में आने वाले किन्हीं दो मनोविकारों का उल्लेख कीजिए।

८. व्यास और समास शैली में क्या अन्तर है ? आचार्य शुक्ल की विचारात्मक शैली को समास शैली कहना कहाँ तक उचित है ?

———

डॉ० सम्पूर्णानन्द (सन् १८९०-१९६९)

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री, कुशल राजनीतिज्ञ एवं मर्मज्ञ साहित्यकार डॉ० सम्पूर्णानन्द का जन्म काशी में हुआ था। उन्होंने बी० एस-सी० की परीक्षा पास करने के बाद ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद से एल० टी० किया।

उन्होंने एक अध्यापक के रूप में जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया और विभिन्न विद्यालयों में सफलतापूर्वक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् अंततः राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर देश-सेवा का व्रत लिया। उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में प्रथम पंक्ति के सेनानी के रूप में कार्य किया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उन्होंने उत्तर प्रदेश शासन के शिक्षा-मंत्री, गृह-मंत्री एवं मुख्य-मंत्री के पदों को सुशोभित किया। अंत में वे राजस्थान के राज्यपाल के पद पर आसीन हुए। इस पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् जीवन के अंतिम क्षणों तक वे काशी में ही रहे।

उन्होंने धर्म, भारतीय दर्शन एवं संस्कृति, इतिहास, विज्ञान तथा ज्योतिष का गहन अध्ययन किया था। अतएव उनकी रचनाओं में इन तत्त्वों की स्पष्ट छाप दिखायी पड़ती है। उनकी सभी रचनाएँ मौलिक और गवेषणापूर्ण हैं। सन् १९४० में वे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। **समाजवाद** नामक पुस्तक पर उनको प्रसिद्ध मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ निम्नांकित हैं :—

१. **अंतर्राष्ट्रीय विधान**, २. **चीन की राज्य क्रान्ति**, ३. **मिस्र की राज्य क्रान्ति**, ४. **भारत के देशीराज**, ५. **सम्राट हर्षवर्धन**, ६. **चेतसिंह और काशी का विद्रोह**, ७. **महादाजी सिन्धिया**, ८. **महात्मा गाँधी**, ९. **आर्यों का आदिदेश**, १०. **सप्तर्षि मंडल**, ११. **समाजवाद**, १२. **चिद्विलास**, १३. **ब्राह्मण सावधान**, १४. **भाषा की शक्ति तथा अन्य निबन्ध**।

डॉ० साहब का हिन्दी के प्रति अटल अनुराग था। गंभीर साहित्य लेखन के साथ ही संपादक के रूप में भी उनकी सेवाएँ उल्लेखनीय हैं। उन्होंने 'टुडे'

(अंग्रेजी) और **'मर्यादा'** पत्रिका का सफल संपादन किया था।

वे गंभीर विचारक और प्रौढ़ लेखक थे। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व और पांडित्य की स्पष्ट छाप है। उन्होंने उदात्त साहित्य का निर्माण किया है।

उनकी शैली शुद्ध, परिष्कृत एवं साहित्यिक है। उन्होंने विषयों का विवेचन तर्कपूर्ण शैली में किया है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उनकी शैली के तीन रूप लक्षित होते हैं। (१) विचारात्मक (२) व्याख्यात्मक तथा (३) ओजपूर्ण।

विचारात्मक शैली :—इस शैली के अन्तर्गत उनके स्वतंत्र एवं मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। भाषा विषयानुकूल एवं प्रवाहपूर्ण है। वाक्यों का विधान लघु है, परन्तु प्रवाह तथा ओज सर्वत्र विद्यमान है।

व्याख्यात्मक शैली :—दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है। भाषा सरल एवं संयत है। उदाहरणों के प्रयोग द्वारा विषय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

ओजपूर्ण शैली :—इस शैली में उनके मौलिक निबन्ध लिखे गये हैं। ओज की प्रधानता है। वाक्यों का गठन सुन्दर है। भाषा व्यावहारिक है।

उनकी भाषा सबल, सजीव, साहित्यिक, प्रौढ़ एवं प्रांजल है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। गंभीर विषयों के विवेचन में भाषा कठिन हो गयी है। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है। शब्दों का चुनाव भावों और विचारों के अनुरूप किया गया है। भाषा में गांभीर्य, प्रभाव और सौष्ठव सर्वत्र विद्यमान है।

हिन्दी में साहित्येतर विषयों के गंभीर विवेचन के लिए वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

'शिक्षा का उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध सम्पूर्णानंद जी के **'भाषा की शक्ति'**, नामक संग्रह से संकलित है। इस पाठ में लेखक ने 'शिक्षा के उद्देश्य' पर मौलिक ढंग से अपना विचार व्यक्त किया है और प्राचीन आदर्शों को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। लेखक ने इस पाठ में अध्यापकों का कर्त्तव्य बताते हुए स्पष्ट किया है कि अध्यापक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य छात्रों में चरित्र का विकास करना और उनमें लोक-कल्याण की भावना जाग्रत करना है।

लेखक के विचारों का स्रोत भारतीय दर्शन, विशेषतः गीता में दिखायी देता है। उसने आत्मसाक्षात्कार पर बल दिया है। आत्मा अजर, अमर और आनन्दमयी है। अपने स्वरूप को पहिचान लेने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

आत्मसाक्षात्कार के लिए योगाभ्यास भी उपयोगी बताया गया है। एकाग्रता भी एक प्रकार का योगाभ्यास ही है। निष्काम कर्म के द्वारा भी हमें एकाग्रता उत्पन्न होती है और हमारी दृष्टि उदार बनती है। चित्त को क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाने के लिए काव्य, चित्र, संगीत और प्रकृति निरीक्षण को भी लेखक ने उपयोगी बतलाया है। व्यानक सौन्दर्य के प्रति भी प्रेम उत्पन्न करना लेखक ने अध्यापक का कर्त्तव्य बतलाया है। इस प्रकार उसने विद्यार्थी के चरित्र और सर्वांगीण व्यक्तित्व को विकसित करना ही लेखक का परम कर्त्तव्य माना है। इस महान् कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए समाज का सहयो[illegible] परम आवश्यक है।

———

शिक्षा का उद्‌देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है शिक्षा किसलिए दी जाय ? शिक्षा का जैसा उद्‌देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य-विषयों का चुनाव होगा । पर शिक्षा का उद्‌देश्य स्वतन्त्र नहीं है । वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्‌देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है । मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्‌देश्य है ।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है, पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य-विषय मात्र नहीं है । प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा । उसी के आधार पर उसकी राजनैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा । जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे । जो बात एक क्षेत्र में ठीक जंचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिए अपना कर्त्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुरा है, पर पराये देश का शोषण करना बुरा नहीं । झूठ बोलना बुरा है, पर राजनैतिक क्षेत्र में सच बोलने पर पड़े रहना मूर्खता है । घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गयी हैं । इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है । पग-पग पर धर्म-संकट में पड़

जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच-विचार कर एक व्यापक दार्शनिक मत अंगीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असंभव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमान काल में रूस ने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक सूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की संभावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिए स्थान नहीं है। मैं यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराने काल में अपने लिए आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका संश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भंडार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ-साथ अल्प शक्तिमत्ता आती है और इसका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है; परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उसे खोयी हुई वस्तु की, अपने स्वरूप की, निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है, कभी इस विषय की ओर दौड़ता है, कभी उसकी ओर, परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती; क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थित यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है और उसको इस [illegible] की शिक्षा का उद्देश्य है। वह राजनीतिक,

आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिससे पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम से कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज्य नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिए गुरु ढूँढ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना अनावश्यक है; वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नहीं है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ रही है, पर उसे इसका पता नहीं। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजों में ढूँढती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिए सुख का अनुभव होता है; परन्तु थोड़ी ही देर बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है, क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नहीं सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य मुठभेड़ होगी। चीज का उपयोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखों के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है।

एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना मैत्री और दुःख को देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं; त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी रागद्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हंसी-खेल नहीं हैं; परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे हा प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है। निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थ-साधन, लोक-संग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जाँय। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिए सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है : भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिए उसके साथ तन्मयता हो जाती है, 'मैं' 'पर' का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। 'मैं' 'तू' के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिए यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भख-प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की ही नहीं, जीव मात्र की करनी है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बंधन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिए किया जाता है, परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से प्रयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह 'मैं' 'तू' के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक साम्य की आकांक्षा होगी। वह वस्तु मेरी होकर रहे—इसी में संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नहीं हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोलें—धर्माचरण करें, उपासना करें, लोगों के दुःख-निवारण करें, इसमें कोई झगड़ा नहीं है। परन्तु इस वस्तु को मैं लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक वस्तु का उपयोग एक समय में प्रायः एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश में तारे खिले हों, फूलों के सुवास से लदी समीर बह रही हो, इनके सुख को युगपत् हजारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्यपाठ से मुझको आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को, चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नहीं है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी है। अपना कल्याण समाज के

कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में ही रहकर होता है और बहुत से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए समाज को ध्यान में रखकर ही धर्म का आदेश होता है। परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं है। हम जिस समाज के अंग हैं उनमें देव भी हैं, पशु भी हैं, मनुष्य भी। इन सबका हम पर प्रभाव पड़ता है, सबका हमारे ऊपर ऋण है, इसलिए सबके प्रति हमारा कर्त्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिए छोड़ गये हैं उनका लोप न होने पाये—हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाय। इसलिए हमारे कर्त्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्त्तव्य-राशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं। इस झगड़े का अन्त नहीं हो सकता है। यदि धर्मबुद्धि जगायी जाय और सब अपने-अपने कर्त्तव्यों में तत्पर हो जाँय तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सबको अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाँय और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी ओर कम, और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है जब चित्त में सत्य के लिए निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं, पर शर्त यह है कि ज्ञान औषधि की घूंट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिए अनुसन्धान और आलोचना की बुद्धि का उद्‌बोधन होना चाहिए। वह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त

में जिज्ञासा-ज्ञान का आदर होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द । वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा । सौंदर्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा । धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी । उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथ्वी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो । इसका तात्पर्य यह नहीं कि सब संन्यासी होंगे । गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नहीं होता । व्यापार, शासन, कुटुम्ब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है । यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों में राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं । अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हैं । इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो निःसंदेह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जायँगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे । पथभ्रष्ट भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन गलतियों की सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे । भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है ।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता । उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे । जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकार कर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो उसके अध्यापक भला क्या करें । जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, माँ-बाप में मार-पीट, गाली-गलौज मची रहती हो, उसके बच्चों को पालने ही में मानस-विष दे दिया जाता है । तंग गलियों और गंदे घरों के रहने वाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौन्दर्य को जल्दी नहीं समझ पाते । ऐसी

दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्त्तव्य पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता, पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—अनेक शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर देह पायी है और मेरे पास छात्र रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में बल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण करना भी पड़ा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय वह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतन्त्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को जोड़ना चाहती है, पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने ज्ञान-शक्ति आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार वह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटने के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा, परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊंचा है, पर अध्यापक का पद भी कम ऊंचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता

था। शिष्य को ब्रह्म-विद्या का पात्र और यजमान को दिव्यलोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरु रहे न पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिए कर्त्तव्यच्युत हो जाँय? हमको अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

—डॉ० सम्पूर्णानन्द

प्रश्न-अभ्यास

१. आधुनिक युग में शिक्षा का क्या उद्देश्य आप रखना पसंद करेंगे? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

२. 'मनुष्य को पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है', इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

३. लेखक के विचार से मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है?

४. शिक्षा किस प्रकार चरित्र-निर्माण में सहायक होती है? अध्यापकों को अपने छात्रों में किन-किन गुणों का विकास करना चाहिए?

५. 'निष्कामिता' का क्या तात्पर्य है? चित्त को वासनाओं से विरत करने के लेखक ने कौन-कौन से साधन बताये हैं?

६. अध्यापक को अपने शिष्य में धर्म की प्रवृत्ति क्यों जाग्रत करनी चाहिए? 'धर्म' की व्यापकता को लेखक ने किस प्रकार स्पष्ट किया है?

७. किस प्रकार के मनोभाव को उत्पन्न करने के लिए लेखक ने समाज की सहायता को आवश्यक माना है?

८. हमारी सामाजिक दशा का शिक्षक और विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पड़ता है?

९. शिक्षक के अंतर में कौन-कौन से भाव होने चाहिए? उसे किन आदर्शों की सिद्धि के लिए निरंतर जागरूक रहना चाहिए?

१०. निम्न लिखित वाक्यों का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए :—

(अ) 'प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूंढ रही है, पर उसे इसका पता नहीं।'

(आ) 'एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है।'

११. व्याख्या कीजिए :—

(अ) 'पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है···तमाशा आज दीख पड़ रहा है ।'

(ब) 'आत्मा अजर······खोज जारी रहेगी ।'

(स) 'निष्कामिता की कुंजी······उपलब्धि होगी ।'

१२. प्रस्तुत पाठ के आधार पर लेखक की शैली की आलोचना कीजिए ।

१३. 'शिक्षा का उद्देश्य' शीर्षक पर एक निबन्ध लिखिए ।

———

रायकृष्णदास (सन् १८९२)

रायकृष्णदास का जन्म काशी के प्रसिद्ध राय परिवार में हुआ है। यह परिवार अपने कला, संस्कृति और साहित्य-प्रेम के लिए विख्यात है। भारतेन्दु-परिवार से संबंधित होने के कारण राय साहब के पिता में अटूट हिन्दी-प्रेम था। इस प्रकार राय साहब को हिन्दी-प्रेम पैतृक दाय के रूप में प्राप्त हुआ है।

राय साहब की स्कूली शिक्षा बहुत स्वल्प हुई। पर उनमें उत्कट ज्ञान-लिप्सा थी। उन्होंने स्वतंत्र रूप से हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन किया और इनमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। उनकी साहित्यिक रुचि के विकास में काशी का तत्कालीन वातावरण भी बहुत दूर तक प्रेरक रहा है। साहित्यिक गतिविधियों के कारण बहुत प्रारंभ में ही उनकी घनिष्ठता श्री जयशंकर प्रसाद, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रमुख कवियों-आलोचकों से हो गयी। कुछ समय बाद वे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कार्यक्रमों में भी प्रमुख रूप से हाथ बँटाने लगे।

भारतीय कला-आंदोलन में राय साहब का अप्रतिम स्थान है। उन्होंने 'भारत कला भवन' नामक एक विशाल संग्रहालय की स्थापना की थी जो अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का एक विभाग है। इस संग्रहालय की गणना संसार के प्रमुख संग्रहालयों में की जाती है। उन्होंने भारतीय कलाओं का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। **भारत की चित्रकला** तथा **भारतीय मूर्तिकला** उनके प्रामाणिक ग्रंथ हैं। प्राचीन भारतीय भूगोल एवं पौराणिक वंशावली पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण शोध निबन्ध प्रस्तुत किये हैं।

राय साहब ने परंपरागत ब्रजभाषा में कविताएँ लिखी हैं, जो **ब्रजरज** में संगृहीत हैं। उनके **भावुक** नामक खड़ीबोली के काव्य-संग्रह पर छायावाद का स्पष्ट प्रभाव है। राय साहब हिन्दी-साहित्य में अपने गद्यगीतों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके गद्यगीतों के संग्रह **साधना** और **छायापथ** के नाम से प्रकाशित हैं। **संलाप**, और **प्रवाल** में इनके संवादशैली के निबंध संगृहीत हैं। आपकी कहानियाँ

अनाख्या, सुधांशु और आँखों की थाह नामक संग्रहों में संकलित हैं। उन्होंने खलील जिब्रान के 'दि मैडमैन' का **पगला** नाम से हिन्दी में सुन्दर अनुवाद किया है। कोमल भावनाओं को सजीव शब्दों में प्रकट करना राय साहब की गद्य-शैली की प्रमुख विशेषता है। उनकी गद्य-शैली भावात्मक, सांकेतिक और कवित्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नया आयाम प्रदान करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। हिन्दी में गद्यगीत की विधा का प्रवर्त्तन राय साहब ही ने किया। आधुनिक युग को गद्य का युग कहा जाता है, जिसकी विशेषता यह है कि गद्य ने अपनी शक्ति के द्वारा पद्य को भी आत्मसात् कर लिया है। वास्तव में गद्य व पद्य को पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता। इसका प्रमाण हमें इनके गद्यगीतों में मिलता है। इन गीतों में पद्य की तरह तुक तो नहीं है परन्तु लय और संगीत पूर्णतः विद्यमान है। शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और अलंकारों के प्रयोग ने इन गद्यगीतों को भव्यता प्रदान कर दी है। आत्मा और प्रकृति के सौन्दय का प्रकाश इन गद्यगीतों में बिखरा हुआ दिखलायी पड़ता है। ये गीत सरल, सुगम और आकार में लघु हैं। काव्य की जटिलता से ये दूर हैं। इन्हें भले ही गाया न जा सके पर गुनगुनाया जा सकता है।

राय साहब की भाषा-शैली कवित्वपूर्ण होते हुए भी सहज और सरल है। न तो उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का आग्रह है और न ही बोलचाल के सामान्य शब्दों की उपेक्षा। इसी प्रकार उनके वाक्य-विन्यास में भी कोई जटिलता नहीं है। अलंकरण का प्रयोग सहज रूप में हुआ है, किसी बनावट के साथ नहीं। मीरा के गीतों के समान भावुक हृदय की सहज अनुभूतियाँ इन गीतों में प्रकट हुई हैं।

रायकृष्णदास अपने गद्य-काव्य की मधुर एवं रमणीय शैली द्वारा पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर चुके हैं। 'साधना' के निबंधों में जीव और परमात्मा के बीच की क्रीड़ाओं के रेखांकन में राय साहब को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन निबंधों में मनमोहक ढंग से प्रिय और प्रिया की आँखमिचौनी के सजीव चित्र प्रस्तुत हुए हैं।

जीवात्मा अनादिकाल से उस असीम की प्रकृति में क्रीड़ारत है। इस क्रीड़ा का कोई छोर नहीं है। वह अनंत है। समूची प्रकृति, पशु, पक्षी उसके निर्देशन में कार्यरत हैं। निबंधकार प्रकृति के प्रत्येक अवयव में उस असीम का आभास पाकर प्रफुल्लवदन हो जाता है।

प्रायः लोग आनन्द की खोज वस्तुजगत् में करते हैं। उनकी यह खोज पता

नहीं कितने जन्मों से चल रही है। लेकिन एक पल के लिए भी मनुष्य यदि अपने भीतर निहार ले तो निश्चित रूप से उसे आनंद के अक्षय स्रोत का पता लग जायेगा। मनुष्य अशेष सृष्टि के साथ ज्योंही आत्मीय संबंध स्थापित कर लेता है त्योंही उसे अपने सही स्वरूप का बोध हो जाता है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति एक भ्रांत पथिक है। वह अशेष सुख और आनन्द की तलाश में है। उसकी तलाश निरंतर जारी है। लेकिन वह पूर्ण सुख और आनंद की खोज के लिए जिस कल्पना लोक के स्वप्न रचता है, उस रचना का मुख्याधार यही वस्तुजगत् है। हम वस्तुजगत् के आधार पर ही कल्पना करते हैं। हमारी कल्पना समाज एवं बाह्य परिवेश से निरपेक्ष नहीं होती। अतः दूसरे लोक की कल्पना करते समय इस जगत् से कट जाना भ्रांति है। सच्चाई तो यह है कि इस जगत् के भीतर ही हमें पूर्ण सुख और आनंद की प्राप्ति हो सकती है, बशर्ते हम अपने सही स्वरूप को जानने का प्रयास करें।

आनन्द की खोज, पागल पथिक

आनन्द की खोज—

आनन्द की खोज में मैं कहाँ-कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चन्द्र की ओर से चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह-रहकर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ ?

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कन्द-मूलक इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले ! हा ! आनन्द के बदले में रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था।

अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनन्द, आनन्द कहाँ है आनन्द ! हाय ! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने-आप में भी देखा था ? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने-आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली ? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे ?

परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने-आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली, जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से न मिली थी वह अपने-आप में मिली !

* * *

पागल पथिक—

'पथिक'—मैंने पूछा—'तुम कहाँ से चले हो और कहाँ जा रहे हो? तुम्हारी यात्रा तो लम्बी मालूम पड़ती है क्योंकि तुम्हारा तन सूख कर काँटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हारकर तुम्हारे पैर फूट-फूटकर रक्त के आँसू रो रहे हैं ! यह बात क्या है?'

उसने दैन्य से दाँत निकालकर उत्तर दिया—'बन्धु मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ। इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है जहाँ इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियाँ तो अपने पूर्ण सौन्दर्य में मिलती हैं पर दुःख का वहाँ लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बताया था और मैं चला भी था उसी पर। किन्तु मुझसे न जाने कौन सी भूल हो गयी है कि मैं घूम फिरकर बारंबार यहीं आ जाता हूँ। जो हो, मैं कभी न कभी वहाँ अवश्य पहुँचूँगा।'

मैंने सखेद कहा—'हाय ! तुम भारी भूल में पड़े हो। भला इस विश्व-मण्डल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो? तुम जहाँ से चलोगे फिर वहीं पहुँच जाओगे। यह तो घटाकार न है। फिर, तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी आदर्श पर करते हो और जब तुम्हें इस भूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण में उसे कैसे पाओगे? मित्र, यहाँ तो सुख के साथ दुःख लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है। जब उसे ही नहीं पा सकते तब वहाँ का निरन्तर सुख तो तुम्हें एक अपरिवर्तनशील बोझ, नहीं यातना हो जायगी। अरे, बिना नव्यता के सुख कहाँ? तुम्हारी यह कल्पना और संकल्प नितान्त मिथ्या और निस्सार है, और इसे छोड़ने ही में तुम्हें इतना सुख मिलेगा कि तुम छक जाओगे।'

परन्तु उसने मेरी एक न सुनी और अपनी राम-पोटरिया उठाकर चलता बना।

—रायकृष्णदास

प्रश्न-अभ्यास

१. गद्यगीत से आप क्या समझते हैं ? एक श्रेष्ठ गद्यगीत की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

२. लेखक को आनन्द की अनुभूति किस स्थिति में हुई ?

३. पागल पथिक का गन्तव्य क्या था ? क्या कोई पथिक इस विश्वमंडल के बाहर जा सकता है ?

४. निम्नलिखित वाक्यांशों की व्याख्या कीजिए :—

(क) 'आनन्द के बदले रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था'।

(ख) 'परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने-आपको न दे सका था, वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली, जो मुझे अखिल ब्रह्मांड से न मिली थी वह अपने-आप में मिली !'

(ग) 'यहाँ तो सुख के साथ दुःख लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है।'

(घ) 'अरे, बिना नव्यता के सुख कहाँ ?'

५. 'आनन्द की खोज' और 'पागल पथिक' उपशीर्षकों के मूल प्रतिपाद्य पर विचार कीजिए।

६. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर रायकृष्णदास की भाषा-शैली की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

———

राहुल सांकृत्यायन (सन् १८९३-१९६३)

हिन्दी के महान् उपासक राहुल जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की बहुमुखी सेवा की है। उनका अध्ययन जितना विशाल था, साहित्य-सृजन भी उतना ही विराट् था। वे छत्तीस एशियाई और योरोपीय भाषाओं के ज्ञाता थे और लगभग १५० ग्रंथों का प्रणयन करके उन्होंने राष्ट्रभाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

राहुल जी का जन्म अपने नाना पं० रामशरण पाठक के यहाँ पन्दहा ग्राम जिला आज़मगढ़ में हुआ था। उनके पिता पं० गोवर्धन पांडे एक कट्टर धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। वे कनैला ग्राम में रहते थे। राहुल जी का बचपन का नाम केदार था। संकृति उनका गोत्र था। इसी के आधार पर वे सांकृत्यायन कहलाये। बौद्ध धर्म में आस्था होने पर उन्होंने अपना नाम बदल कर महात्मा बुद्ध के पुत्र के नाम पर 'राहुल' रख लिया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा रानी की सराय, और फिर निजामाबाद में हुई जहाँ से इन्होंने सन् १९०७ में उर्दू मिडिल पास किया। इसके उपरान्त उन्होंने संस्कृत की उच्च शिक्षा वाराणसी में प्राप्त की। यहीं उनमें पालि-साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। 'केदारनाथ' के पिता की इच्छा थी कि वे आगे भी पढ़ें पर उनका मन कहीं और था। उन्हें घर का बन्धन अच्छा न लगा। वे घूमना चाहते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के कई कारण थे। उनके नाना पं० रामशरण पाठक सेना में सिपाही रहे थे और उस जीवन में दक्षिण भारत की खूब यात्रा की थी। इस विगत जीवन की कहानियाँ वे बालक केदार को सुनाया करते थे, जिसने उसके मन में यात्रा-प्रेम को अंकुरित कर दिया। इसके बाद उन्होंने अपनी एक उर्दू पाठ्य पुस्तक (मौलवी इस्माईल की उर्दू की चौथी किताब) पढ़ी थी, जिसमें यह एक शेर था—

सैर कर दुनिया की गाफ़िल जिन्दगानी फिर कहाँ।
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ॥

इस शेर के सन्देश ने बालक केदार के मन पर गहरा प्रभाव डाला । इसके द्वारा उनके घुमक्कड़ी जीवन का सूत्रपात हुआ, और आगे चलकर उन्होंने बाकायदा घुमक्कड़ों के निर्देशन के लिए 'घुमक्कड़ शास्त्र' ही लिख डाला ।

राहुल जी की पाठशाला और विश्वविद्यालय यही घुमक्कड़ी जीवन था। उन्होंने न तो कभी विधिवत अध्ययन ही किया और न ही विधिवत लेखन । अपनी आत्मकथा **मेरी जीवन यात्रा** में उन्होंने लिखा है कि वे मैट्रिक पास करने से असहमत थे और "**ग्रेजुएट तो क्या विश्वविद्यालय के चौखटे के भीतर भी कदम नहीं रखा ।**" वे बड़े मुक्त विचारों के व्यक्ति थे, जैसा कि उन्होंने लिखा भी है "**बेड़े की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये फिरने के लिए ।**"

राहुल जी के यात्रा-विवरण अत्यन्त रोचक, रोमांचक, शिक्षाप्रद, उत्साहवर्द्धक और ज्ञान-प्रेरक हैं । इनसे उनका गहरा विद्यानुराग प्रकट होता है । उन्होंने पाँच-पाँच बार तिब्बत, लंका और सोवियत भूमि की यात्रा की थी । छः मास योरोप में रहे थे । एशिया को उन्होंने जैसे छान ही डाला था । कोरिया, मंचूरिया, ईरान, अफगानिस्तान, जापन, नैपाल, बद्रीनाथ-केदारनाथ, कुमायूँ-गढ़वाल, केरल-कर्नाटक, कश्मीर-लद्दाख आदि के पर्यटन को उनकी दिग्विजय कहने में कोई अत्युक्ति न होगी । उनकी मुख्य यात्रा-रचनाएँ हैं—**लंका, तिब्बत-यात्रा, जापान, ईरान** और **रूस में पच्चीस मास ।**

राहुल जी के कुछ अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं—१. **वोल्गा से गंगा** (कहानी संग्रह), २. **सिंह सेनापति** और ३. **जय यौधेय** (उपन्यास), ४. **मेरी जीवन यात्रा** (आत्म-कथा), ५. **दर्शन दिग्दर्शन** (दर्शन), ६. **विश्व की रूपरेखा** विज्ञान), ७. **मध्य एशिया का इतिहास** (इतिहास), तथा ८. **शासन शब्द कोश, ९. राष्ट्रभाषा कोश** और १०. **तिब्बती हिन्दी कोश** (कोश) ।

राहुल जी की भाषा-शैली में कोई बनावट या साहित्य-रचना का प्रयास नहीं है । सामान्यतः संस्कृतनिष्ठ परन्तु सरल और परिष्कृत भाषा को ही उन्होंने अपनाया है। न तो संस्कृत के क्लिष्ट या समासयुक्त शब्दों को उन्होंने प्रश्रय दिया है और न ही लम्बे-लम्बे वाक्यों को । उनका सम्पूर्ण साहित्य, चाहे दर्शन हो और चाहे यात्रा-विवरण, चिन्तन से पूर्ण होकर भी सरल और सुगम है जिससे उनके सहज-मुक्त व्यक्तित्व की झाँकी प्राप्त होती है । संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी आप जनसाधारण का भाषा में लिखने के पक्षपाती थे ।

प्रस्तुत लेख राहुल जी की पुस्तक '**घुमक्कड़ शास्त्र**' से लिया गया है। वे भारतीय साहित्यकारों में सबसे अधिक घुमक्कड़ अर्थात् पर्यटनशील रहे हैं। इसीलिए उनका जीवन-अनुभव बड़ा व्यापक और व्यावहारिक था। इस लेख में उन्होंने घुमक्कड़ी की महिमा किसी शास्त्र से कम नहीं मानी है और उसका गौरव शास्त्र के समान ही स्थापित किया है। उन्होंने आदिमकाल से लेकर आधुनिक काल तक के अनेक महापुरुषों की सफलता का रहस्य घुमक्कड़ी में सिद्ध किया है। घुमक्कड़ों ने संसार की प्रगति के सभी क्षेत्रों में महान् योगदान किया है—विज्ञान, भूगोल, धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति आदि सभी ज्ञान-क्षेत्रों में उनकी मौलिक देन निर्विवाद है। इसकी पुष्टि में लेखक ने डार्विन, कोलम्बस, वास्को डि गामा, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, रामानुज, रामानन्द और ऋषि दयानन्द आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि घुमक्कड़ी से प्राप्त होने वाला ज्ञान ग्रंथ-ज्ञान से भी बढ़कर होता है।

———

अथातो घुमक्कड़—जिज्ञासा

संस्कृत से ग्रंथ को शुरू करने के लिए पाठकों को रोष नहीं होना चाहिए। आखिर हम शास्त्र लिखने जा रहे हैं, फिर शास्त्र की परिपाटी को मानना ही पड़ेगा। शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलायी गयी है, जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज के लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यास-शिष्य जैमिनी ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की वस्तु नहीं है, आखिर छः शास्त्रों के रचयिता छः आस्तिक ऋषियों में भी आधों ने ब्रह्म को धता बता दी है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। कहा जाता है, ब्रह्मा को सृष्टि करने के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक हो सकता है, न अनुमान ही। हाँ, दुनिया के धारण की बात तो निश्चय ही न ब्रह्मा के ऊपर है, न विष्णु के और न शंकर ही के ऊपर। दुनिया दुख में हो चाहे सुख में सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागवानी तथा घरद्वार से मुक्त वह आकाश के पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर सदा विचरण करता था, जाड़े में यदि इस जगह था तो गर्मियों में वहाँ से दो सौ कोस दूर।

आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुरा के उन्हें गला फाड़-फाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया, जिससे दुनिया

जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन, क्या डारविन अपने महान् आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता ?

मैं मानता हूँ, पुस्तकें भी कुछ-कुछ घुमक्कड़ी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फोटो देखकर आप हिमालय के देवदारु के गहन वनों और श्वेत हिम-मुकुटित शिखरों के सौन्दर्य, उनके रूप, उनकी गंध का अनुभव नहीं कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस बूँद से भेंट नहीं हो सकती जो कि एक घुमक्कड़ को प्राप्त होती है। अधिक से अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है कि दूसरे धन्धों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है जो स्थायी नहीं तो कुछ दिनों के लिए तो उन्हें घुमक्कड़ बना ही सकती है। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है ? इसीलिए कि उसी ने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम पुरुष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गर्म मुल्क में पड़े रहते, तो वह दुनिया को आगे नहीं ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहायी हैं, इसमें संदेह नहीं, और घुमक्कड़ों से हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि वे खून के रास्ते को पकड़ें, किन्तु घुमक्कड़ों के काफले न आते जाते, तो सुस्त मानव जातियाँ सो जातीं और पशु के ऊपर नहीं उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पंथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इतिहास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नहीं पाते, किन्तु मंगोल घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते हैं। बारूद, तोप, कागज, छापाखाना, दिग्दर्शक चश्मा

यही चीजें थीं, जिन्होंने पश्चिम में विज्ञान युग का आरंभ कराया और इन चीजों को वहाँ ले जाने वाले मंगोल घुमक्कड़ थे।

कोलम्बस और वास्को डि गामा दो घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने पश्चिमी देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन सा पड़ा था। एशिया के कूप-मंडूकों को घुमक्कड़ धर्म की महिमा भूल गयी, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आयी कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते। आज अपने ४०-५० करोड़ की जनसंख्या के भार से भारत और चीन की भूमि दबी जा रही है, और आस्ट्रेलिया में एक करोड़ भी आदमी नहीं है। आज एशियाइयों के लिए आस्ट्रेलिया का द्वार बन्द है, लेकिन दो शदी पहले वह हमारे हाथ की चीज थी। क्यों भारत और चीन, आस्ट्रेलिया की अपार संपत्ति और अमित भूमि से वंचित रह गये? इसीलिए कि घुमक्कड़ धर्म से विमुख थे, उसे भूल चुके थे।

हाँ, मैं इसे भूलना ही कहूँगा, क्योंकि किसी समय भारत और चीन ने बड़े-बड़े नामी घुमक्कड़ पैदा किये : ये भारतीय घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने दक्षिण पूरब में लंका, बर्मा, मलाया, यवद्वीप, स्याम, कम्बोज, चम्पा, बोर्नियों और सैलीबीज ही नहीं, फिलिपाइन तक का धावा मारा था, और एक समय तो जान पड़ा कि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया भी वृहत्तर भारत के अंग बनने वाले हैं। लेकिन कूप-मंडूकता तेरा सत्यानाश हो। इस देश के बुद्धूओं ने उपदेश करना शुरू किया कि समुन्दर के खारे पानी और हिन्दू धर्म में बड़ा बैर है, उसे छूने मात्र से वह नमक की पुतली की तरह गल जायगा। इतना बतला देने पर क्या कहने की आवश्यकता है कि समाज के कल्याण के लिए घुमक्कड़ धर्म कितनी आवश्यक चीज है? जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ, और जिसने इसे दुराया, उसको

नरक में भी ठिकाना नहीं। आखिर घुमक्कड़ धर्म को भूलने के कारण ही हम सात शताब्दियों तक धक्का खाते रहे, ऐरे-गैरे जो भी आये, हमें चार लात लगाते गये।

शायद किसी को संदेह हो कि मैंने इस शास्त्र में जो युक्तियाँ दी हैं, वे सभी तो लौकिक तथा शास्त्र-अग्राह्य हैं। अच्छा तो धर्म से प्रमाण लीजिए। दुनिया के अधिकांश धर्मनायक घुमक्कड़ रहे। धर्माचार्यों में आचार-विचार, बुद्धि और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़-राज थे। यद्यपि वह भारत से बाहर नहीं गये लेकिन वर्ष के तीन मासों को छोड़कर एक जगह रहना वह पाप समझते थे। वह अपने आप ही घुमक्कड़ नहीं थे, बल्कि आरंभ में ही अपने शिष्यों से उन्होंने कहा था—'चरथ भिक्खवे', 'चरथ' जिसका अर्थ है—'भिक्षुओ! घुमक्कड़ी करो।' बुद्ध के भिक्षुओं ने अपने गुरु की शिक्षा को कितना माना, क्या इसे बताने की आवश्यकता है? क्या उन्होंने पश्चिम में मकदूनियाँ तथा मिस्र से पूरब में जापान तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में बाली और बाँका के द्वीपों तक को रौंदकर रख नहीं दिया? जिस वृहत्तर भारत के लिए हरेक भारतीय को उचित अभिमान है, क्या उसका निर्माण इन्हीं घुमक्कड़ों की चरण धूलि ने नहीं किया? केवल बुद्ध ने ही अपनी घुमक्कड़ी से प्रेरणा नहीं दी, बल्कि घुमक्कड़ों का इतना जोर बुद्ध से एक-दो शताब्दियों पूर्व भी था, जिसके कारण ही बुद्ध जैसे घुमक्कड़-राज इस देश में पैदा हो सके। उस वक्त पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ तक जम्बू-वृक्ष की शाखा ले, अपनी प्रखर प्रतिभा का जौहर दिखाती, बाद में कूप-मंडूकों को पराजित करती सारे भारत में मुक्त होकर विचरण करती थीं।

कई-कई महिलाएँ पूछती हैं—क्या स्त्रियाँ भी घुमक्कड़ी कर सकती हैं, क्या उनको भी इस महाव्रत की दीक्षा लेनी चाहिए? इसके बारे में तो अलग अध्याय ही लिखा जाने वाला है, किन्तु यहाँ इतना कह देना है कि घुमक्कड़ धर्म ब्राह्मण-धर्म जैसा संकुचित धर्म नहीं है, जिसमें

स्त्रियों के लिए स्थान न हो। स्त्रियाँ इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं, जितना पुरुष। यदि वे जन्म सफल करके व्यक्ति और समाज के लिए कुछ करना चाहती हैं, तो उन्हें भी दोनों हाथों इस धर्म को स्वीकार करना चाहिए। घुमक्कड़ी धर्म छुड़ाने के लिए ही पुरुष ने बहुत से बंधन नारी के रास्ते लगाये हैं। बुद्ध ने सिर्फ पुरुषों के लिए घुमक्कड़ी करने का आदेश नहीं दिया, बल्कि स्त्रियों के लिए भी उनका यही उपदेश था।

भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापक श्रवण महावीर कौन थे। वह भी घुमक्कड़-राज थे। घुमक्कड़ धर्म के आचरण में छोटी से बड़ी तक सभी बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया था—घर-द्वार और नारी-संतान ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन कर दिया था। "करतल भिक्षा, तरुतल वास" तथा दिग-अम्बर को उन्होंने इसीलिए अपनाया था कि निर्द्वन्द्व विचरण में कोई बाधा न रहे। श्वेताम्बर-बन्धु दिगम्बर कहने के लिए नाराज न हों। वस्तुतः हमारे वैज्ञानिक महान् घुमक्कड़ कुछ बातों में दिगम्बरों की कल्पना के अनुसार थे और कुछ बातों में श्वेताम्बरों के उल्लेख के अनुसार लेकिन इसमें तो दोनों संप्रदायों और बाहर के मर्मज्ञ भी सहमत हैं कि भगवान महावीर दूसरी, तीसरी नहीं, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते ही पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दम्भी कहूँगा। आजकल कुटिया या आश्रम बनाकर तेली के बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते हैं या चेलों से कहलवाते हैं, लेकिन मैं तो कहूँगा, घुमक्कड़ी को त्यागकर यदि महापुरुष बना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली में देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूँ कि वे ऐसे मुलम्मे वाले महात्माओं और महापुरुषों के फेर से बचे रहे। वे स्वयं तेली के बैल तो हैं ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।

बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों की घुमक्कड़ी की बात से यह नहीं मान लेना होगा कि दूसरे लोग ईश्वर के भरोसे गुफा या कोठरी में बैठकर सारी सिद्धियाँ पा गये या पा जाते हैं। यदि ऐसा होता तो शंकराचार्य, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, क्यों भारत के चारों कोनों की खाक छानते फिरे? शंकर को शंकर किसी ब्रह्मा ने नहीं बनाया उन्हें बड़ा बनाने वाला था यही घुमक्कड़ी धर्म। शंकर बराबर घूमते रहे—आज केरल देश में थे तो कुछ ही महीने बाद मिथिला में और अगले साल काश्मीर या हिमालय के किसी दूसरे भाग में। शंकर तरुणाई में ही शिवलोक सिधार गये, किन्तु थोड़े से जीवन में उन्होंने सिर्फ तीन भाष्य ही नहीं लिखे, बल्कि अपने आचरण से अनुयायियों को वह घुमक्कड़ी का पाठ पढ़ा गये कि आज भी उसके पालन करने वाले सैकड़ों मिलते हैं। वास्को दि गामा के भारत पहुँचने से बहुत पहले शंकर के शिष्य मास्को और यूरोप तक पहुँचे थे। उनके साहसी शिष्य सिर्फ भारत के चार धामों से ही सन्तुष्ट नहीं थे, बल्कि उनमें से कितनों ने जाकर बाकू (रूस) में धूनी रमायी। एक ने पर्यटन करते हुए वोल्गा तट पर निज्जी नोवोग्राद के महामेले को देखा।

रामानुज, मध्वाचार्य और वैष्णवाचार्यों के अनुयायी मुझे क्षमा करें, यदि मैं कहूँ कि उन्होंने भारत में कूप-मंडूकता के प्रचार में बड़ी सरगर्मी दिखायी। भला हो रामानंद और चैतन्य का, जिन्होंने कि पंक के पंकज बनकर आदिकाल से चले आते महान् घुमक्कड़ धर्म की फिर से प्रतिष्ठापना की, जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के तो नहीं, किन्तु द्वितीय श्रेणी के बहुत से घुमक्कड़ उनमें पैदा हुए। ये बेचारे बाकू की बड़ी ज्वालामई तक कैसे जाते, उनके लिए तो मानसरोवर तक पहुँचना भी मुश्किल था। अपने हाथ से खाना बनाना, मांस अंडे से छू जाने पर भी धर्म का चला जाना, हाड़-तोड़ सर्दी के कारण हर लघुशंका के बाद बर्फीले पानी से हाथ धोना और हर महाशंका के बाद स्नान करना तो यमराज को निमंत्रण देना होता, इसीलिए बेचारे

फूँक-फूँककर ही घुमक्कड़ी कर सकते थे। इसमें किसे उज्र हो सकता है कि शैव हो या वैष्णव, वेदान्ती हो या सैद्धान्ती, सभी को आगे बढ़ाया केवल घुमक्कड़ धर्म ने।

महान् घुमक्कड़-धर्म बौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होना क्या था कि तब कूप-मंडूकता का हमारे देश में बोलबाला हो गया। सात शताब्दियाँ बीत गयीं और इन सातों शताब्दियों में दासता और परतंत्रता हमारे देश में पैर तोड़कर बैठ गयी। यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी, समाज के अगुओं ने चाहे कितना ही कूप-मंडूक बनाना चाहा, लेकिन इस देश में ऐसे माई के लाल जब तक पैदा होते रहे, जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया। हमारे इतिहास में गुरु नानक का समय दूर का नहीं है, लेकिन अपने समय के वह महान् घुमक्कड़ थे। उन्होंने भारत-भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा, ईरान और अरब तक का धावा मारा, घुमक्कड़ी किसी बड़े योग से कम सिद्धिदायिनी नहीं है और निर्भीक तो वह एक नम्बर का बना देती है।

दूर शताब्दियों की बात छोड़िए, अभी शताब्दी भी नहीं बीती, इस देश से स्वामी दयानन्द को विदा हुए। स्वामी दयानन्द को ऋषि दयानन्द किसने बनाया? घुमक्कड़ी धर्म ने। उन्होंने भारत के अधिक भागों का भ्रमण किया, पुस्तक लिखते, शास्त्रार्थ करते वह बराबर भ्रमण करते रहे। शास्त्रों को पढ़कर काशी के बड़े-बड़े पंडित महामंडूक बनने में ही सफल होते रहे, इसलिए दयानन्द को मुक्तबुद्धि और तर्कप्रधान बनाने का कारण शास्त्रों से अलग कहीं ढूंढना होगा, और वह है उनका निरन्तर घुमक्कड़ी धर्म का सेवन। उन्होंने समुद्र-यात्रा करने, द्वीप-द्वीपान्तरों में जाने के विरुद्ध जितनी थोथी दलीलें दी जाती थीं सबको चिंदी-चिंदी करके उड़ा दिया और बताया कि मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के भारतीय घुमक्कड़ों की चर्चा करने की

आवश्यकता नहीं। इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि अनादि सनातन धर्म है तो वह घुमक्कड़ धर्म है। लेकिन वह संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, वह आकाश की तरह महान् है, समुद्र की तरह विशाल है। जिन धर्मों ने अधिक यश और महिमा प्राप्त की है, केवल घुमक्कड़ धर्म ही के कारण। प्रभु ईसा घुमक्कड़ थे, उनके अनुयायी भी ऐसे घुमक्कड़ थे, जिन्होंने ईसा के संदेश को दुनिया के कोने-कोने में पहुँचाया।

इतना कहने के बाद कोई संदेह नहीं रह गया कि घुमक्कड़ धर्म से बढ़कर दुनिया में धर्म नहीं है। धर्म भी छोटी बात है, उसे घुमक्कड़ के साथ लगाना "महिमा घटी समुद्र की रावण बसा पड़ोस" वाली बात होगी। घुमक्कड़ होना आदमी के लिए परम सौभाग्य की बात है। यह पंथ अपने अनुयायी को मरने के बाद किसी काल्पनिक स्वर्ग का प्रलोभन नहीं देता, इसके लिए तो कह सकते हैं "क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ ले उस हाथ दे।" घुमक्कड़ी वही कर सकता है, जो निश्चिन्त है। किन साधनों से सम्पन्न होकर आदमी घुमक्कड़ बनने का अधिकारी हो सकता है, यह आगे बतलाया जायगा। किन्तु घुमक्कड़ी के लिए चिन्ताहीन होना आवश्यक है, और चिन्ताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी भी आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं भूषण है। घुमक्कड़ी से बढ़कर सुख कहाँ मिल सकता है आखिर चिन्ताहीनता तो सुख का सबसे स्पष्ट रूप है। घुमक्कड़ी में कष्ट भी होते हैं लेकिन उसे उसी तरह समझिए, जैसे भोजन में मिर्च। मिर्च में यदि कड़वाहट न हो, तो क्या कोई मिर्च-प्रेमी उसमें हाथ भी लगायेगा? वस्तुतः घुमक्कड़ी में कभी-कभी होने वाले कड़वे अनुभव उसके रस को और बढ़ा देते हैं—उसी तरह जैसे काली पृष्ठ-भूमि में चित्र अधिक खिल उठता है।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई नकद धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ी पर निर्भर करता है। इसलिए मैं कहूँगा

कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़ व्रत ग्रहण करना चाहिए, इसके विरुद्ध दिये जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का समझना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते हैं तो समझना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हितु-बान्धव बाधा उपस्थित करते हैं तो समझना चाहिए कि वे दिवांध हैं। यदि धर्माचार्य कुछ उल्टा सीधा तर्क देते हैं तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने नहीं दिया। यदि राज्य और राजसी नेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं तो हजारों बार के तजुर्बा की हुई बात है कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकनेवाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंक कर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक से अधिक बार किया है। 'पहली तिब्बत यात्रा में अंग्रेजों, नेपाल राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों की आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।'

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यदि कोई तरुणी-तरुण घुमक्कड़ धर्म की दीक्षा लेता है—यह मैं अवश्य कहूँगा कि यह दीक्षा वही ले सकता है जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है—तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह कर लायी अपनी पत्नी के रोने-धोने की और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। बस, शंकराचार्य के शब्दों में यही समझना चाहिए—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः" और मेरे गुरु कपोतराज के वचन को अपना पथ प्रदर्शक बनाना चाहिए—

"सैर कर दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ ?
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

—इस्माइल मेरठी

दुनिया में मानुष जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं खोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।

—राहुल सांकृत्यायन

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने घुमक्कड़ी को 'शास्त्र' मानने के लिए क्या तर्क दिये हैं।

२. निम्नलिखित क्षेत्रों के घुमक्कड़ों के नाम बताइए :—
विज्ञान, भूगोल, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, वेदान्त, वैष्णव धर्म, आर्य समाज और ईसाई मत।

३. लेखक ने अपनी निम्नलिखित मान्यताओं के बारे में क्या तर्क दिये हैं :—
(क) पुस्तकें घुमक्कड़ी का पूरा रस प्रदान नहीं कर पातीं।
(ख) घुमक्कड़ दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है।

४. निम्नलिखित वाक्यों का आशय स्पष्ट कीजिए :—
(क) 'समुद्र के खारे पानी.........गल जायगा।'
(ख) 'वह संकुचित संप्रदाय.........समुद्र की तरह विशाल है।'
(ग) 'घुमक्कड़ी में कष्ट भी.........खिल उठता है।'

५. कुटिया या आश्रम बनाकर बैठने वाले महात्माओं को लेखक ने 'तेली के बैल' क्यों कहा है?

६. एशिया के कूप-मंडूकों से लेखक का क्या आशय है? वे अमेरिका और आस्ट्रेलिया पर अपनी झंडी किस प्रकार गाड़ सकते थे?

७. ऋषि दयानन्द ने आधुनिक भारत की उन्नति में किस प्रकार भाग लिया?

८. आजकल आपको घुमक्कड़ी किन-किन रूपों में दिखायी पड़ती है?

९. लेखक ने घुमक्कड़ों में किन गुणों का होना आवश्यक माना है?

१०. घुमक्कड़ी के लिए किन-किन साधनों की आवश्यकता होती है?

———

रामवृक्ष बेनीपुरी (सन् १९०२-१९६८)

रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म जनवरी सन् १९०२ में बिहार में मुजफ्फरपुर जिले के बेनीपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता श्री फूलवन्त सिंह एक साधारण किसान थे। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहावसान हो गया और इनका लालन-पालन इनकी मौसी की देखरेख में हुआ। इनकी प्रारंभिक शिक्षा बेनीपुर में हुई। बाद में इनकी शिक्षा इनके ननिहाल में भी हुई। मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पूर्व ही सन् १९२० में उन्होंने अध्ययन छोड़ दिया और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में प्रारंभ हुए असहयोग आन्दोलन में ये कूद पड़े।

वे राष्ट्रसेवा के साथ-साथ साहित्य की भी साधना करते रहे। साहित्य की ओर इनकी रुचि 'रामचरित मानस' के अध्ययन से जाग्रत हुई। पन्द्रह वर्ष की आयु से ही ये पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। देश-सेवा के परिणामस्वरूप इनको अनेक वर्षों तक जेल की यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। सन् १९६८ में इनका देहान्त हो गया।

बेनीपुरी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया है जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—१. **बालक**, २. **तरुण भारती**, ३. **युवक**, ४. **किसान मित्र**, ५. **कैदी**, ६. **योगी**, ७. **जनता**, ८. **हिमालय**, ९. **नईधारा**, १०. **चुन्नू-मुन्नू**।

बेनीपुरी जी ने उपन्यास, नाटक, कहानी, संस्मरण, निबंध, रेखाचित्र, आदि सभी गद्य-विधाओं पर अपनी कलम उठायी है। इनके कुछ प्रमुख ग्रंथ निम्नलिखित हैं:—

उपन्यास—**पतितों के देश में**, रेखाचित्र—**माटी की मूरतें**, **लालतारा**, कहानी—**चिता के फूल**, नाटक—**अंबपाली**, निबन्ध—**गेहूँ और गुलाब**, **वन्दे वाणीविनायकौ**, **मशाल**, संस्मरण—**जंजीरें और दीवारें**, यात्रा-वर्णन—**पैरों में पंख बाँधकर**।

बेनीपुरी जी के सम्पूर्ण साहित्य को **बेनीपुरी ग्रन्थावली** नाम से दस खण्डों में प्रकाशित करने की योजना थी जिसके दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। निबंधों और रेखाचित्रों के लिए इनकी ख्याति सर्वाधिक है। **माटी की मूरतें** इनके श्रेष्ठ

रेखाचित्रों का संग्रह है जिसमें विहार के जनजीवन को पहचानने के लिए अच्छी सामग्री है। कुल १२ रेखाचित्र हैं और सभी एक से एक बढ़कर हैं।

बेनीपुरी जी के गद्य-साहित्य में गहन अनुभूतियों एवं उच्च कल्पनाओं की स्पष्ट झाँकी मिलती है। भाषा में ओज है। उनकी खड़ीबोली में कुछ आंचलिक शब्द भी आ जाते हैं किन्तु इन प्रांतीय शब्दों से भ षा के प्रवाह में कोई विघ्न नहीं उपस्थित होता। शैली में विविधता है। कहीं चित्रोपम शैली, कहीं डायरी शैली, कहीं नाटकीय शैली। किन्तु सर्वत्र भाषा में प्रवाह एवं ओज विद्यमान है। वाक्य छोटे होते हैं किन्तु भाव पाठकों को विभोर कर देते हैं।

बेनीपुरी जी के निबन्ध संस्मरणात्मक और भावात्मक हैं। भावुक हृदय के तीव्र उच्छ्वास की छाया इनके प्रायः सभी निबन्धों में विद्यमान हैं। इन्होंने जो कुछ लिखा है वह स्वतन्त्र भाव से लिखा है। ये एक राजनीतिक एवं समाज सेवी व्यक्ति थे। विधान सभा, सम्मेलन, किसान सभा, राष्ट्रीय-आन्दोलन, विदेश-यात्रा, भाषा-आन्दोलन आदि के बीच में रमे रहते हुए भी इनका साहित्यकार हिन्दी साहित्य को अनेक सुन्दर ग्रंथ दे गया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ जेल में लिखी गयी हैं किन्तु इनका राजनीतिक व्यक्ति उनके साहियकार को दबा नहीं सका।

प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहीत उनका निबन्ध 'गेहूँ और गुलाब' इसी नाम के उनके ग्रंथ का पहला निबंध है। इसमें लेखक ने गेहूँ को आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का द्योतक माना है तथा गुलाब को सांस्कृतिक प्रगति का। इसमें इन्होंने प्रतिपादित किया है कि राजनीतिक एवं आर्थिक प्रगति सदा एकांगी रहेगी और इसे पूर्ण बनाने के लिए सांस्कृतिक प्रगति की आवश्यकता होगी। मानव संस्कृति के विकास के लिए साहित्यकारों एवं कलाकारों की भूमिका गुलाब की भूमिका है और इसका अपना स्थान है। गेहूँ और गुलाब में प्राचीन-काल में समन्वय था किन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि गेहूँ पर विजय प्राप्त की जाय।

———
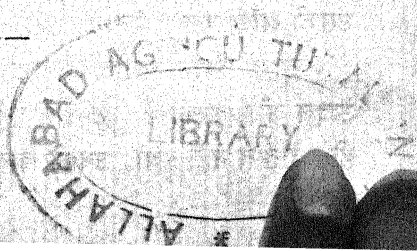
गेहूँ बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस!

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये क्या पीये? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीटपतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है। गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए!

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

किन्तु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी!

यह नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ; उनकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग

की बनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाये, तराने छेड़े! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनायी, वंशी भी बजायी!

रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होने वाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उसमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उसके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया—इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्र-धनुषी रंगों में रंग दिया!

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की!

गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की! प्राचीन काल से उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं!

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का संतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा!

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं!
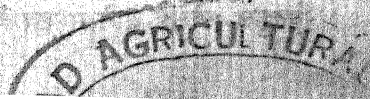
किन्तु, धीरे-धीरे यह संतुलन टूटा !

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़ने वाले, उबालने वाले, नारकीय यंत्रणाएँ देने वाले श्रम का—उस श्रम का, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का ! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी !

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परम्परा चली आ रही है ! आज चारों ओर महाभारत है, गृह-युद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है !

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालनकर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर—!

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार संतुलन स्थापित करें !

किन्तु मानव क्या पीछे मुड़ा है; मुड़ सकता है ?

यह महायात्रा ! आगे बढ़ता रहा है, आगे बढ़ता रहेगा !

और क्या नवीन संतुलन चिर-स्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहरकर नहीं रहेगा ?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर संतुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं !

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे !

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर-विजय ! अब नये मानव की यह नयी आकांक्षा हो !

क्या यह सम्भव ?

बिल्कुल, सोलह आने सम्भव है।

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है? और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गये हैं। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, हम से यह भी छिपा नहीं है!

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्त्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदों की बालियों में संग्रहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं। उन्हीं तत्त्वों की कमी हमारे शरीर में भूख नाम पाती है!

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई! क्यों आकाश की दुहाई! हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्त्वों को सीधे क्यों न ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात—उटोपिया, उटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, उटोपिया तब तक बनी रहेगी जब तक विज्ञान संहार-कांड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्योंही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी!

और; विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है!

कम से कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफरात हो जाँय! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके निकलते ही जा रहे हैं, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें।

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने वाले साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है!

* * *

प्रचुरता ?—एक प्रश्न चिह्न!

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है?

'हमारा सोने का हिन्दुस्तान'—यह गीत गाइए; किन्तु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छः महीने सोती थी; जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।

गेहूँ बड़ा प्रबल है—वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर आपको बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय ? अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिए आज मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन और वृत्तियों के उन्नयन का !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं। किन्तु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गयीं !

आज भी देखिए। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलने वाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं !

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियों के उन्नयन का।

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की !

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं !

* *

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप से हम सब पर छायी है!

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही है; राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही है!

अब वह दुनिया आने वाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे!

गुलाब की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत्।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे!

जब गेहूँ से हमारा पिंड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे!

गुलाब की दुनिया—रंगों की दुनिया, सुगन्धों की दुनिया!

भौरें नाच रहे, गूँज रहे, फुलसुंघनी फुदक रही, चहक रही!

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह!

कहीं गन्दगी नहीं; कहीं कुरूपता नहीं! आँगन में गुलाब; खेतों में गुलाब! गालों पर गुलाब खिल रहे; आँखों से गुलाब झाँक रहा!

जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायेगा? वह दिन कब आयगा?

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे? कैसी आँखें हैं आपकी! शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वहाँ अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर हो!

"शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर!"

—रामवृक्ष बेनीपुरी
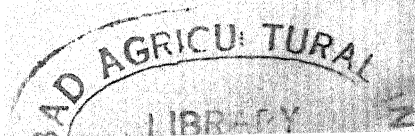
प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने गेहूँ को किसका प्रतीक माना है ?
२. गुलाब को किस प्रकार की भावना का द्योतक बताया गया है ?
३. पशु और मानव में अन्तर का क्या आधार है ?
४. लेखक के अनुसार गेहूँ पर विजय किस प्रकार पायी जा सकती है ?
५. गेहूँ पर गुलाब की प्रभुता का क्या तात्पर्य है ?
६. गुलाब की दुनिया का वर्णन लेखक ने किस प्रकार किया है ?
७. लेखक की ही शैली में 'अन्न और फूल' पर दस वाक्य लिखिए।
८. लेखक के अनुसार विज्ञान को किस ओर आना है ?
९. गेहूँ और गुलाब में सन्तुलन टूटने पर क्या होता है ?
१०. निम्नलिखित अंशों की व्याख्या कीजिए :—
(क) 'गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।'
(ख) 'गेहूँ की आवश्यकता उसे है, किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की। प्राचीन काल के उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं।'
(ग) 'गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालनकर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर।
११. रामवृक्ष बेनीपुरी की भाषा-शैली की विशेषताओं को लिखिए।

———

वासुदेवशरण अग्रवाल (सन् १९०४-१९६७)

इनका जन्म लखनऊ के प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक होने के बाद एम० ए०, पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधियाँ इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त कीं। ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारती महाविद्यालय में 'पुरातत्व एवं प्राचीन इतिहास विभाग' के अध्यक्ष और बाद में आचार्य रहे।

१. कल्पवृक्ष, २. पृथिवीपुत्र, ३. भारत की एकता, ४. माताभूमि इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इन्होंने वैदिक साहित्य, दर्शन, पुराण और महाभारत पर अनेक गवेषणात्मक लेख लिखे हैं। जायसी कृत 'पद्मावत' की संजीवनी व्याख्या और बाणभट्ट के 'हर्ष चरित' का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करके इन्होंने हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया है।

इनकी भाषा सर्वत्र विषयानुकूल है। संस्कृतनिष्ठता के कारण कहीं-कहीं वह दुरूह हो गयी है। इनकी मौलिक रचनाओं में संस्कृत की सामासिक शैली की प्रमुखता है तथा भाष्यों में व्यास शैली की। इनकी शैली पर इनके गंभीर व्यक्तित्व की गहरी छाप है। ये एक गंभीर अध्येता और चिन्तक रहे हैं। इनके व्यक्तित्व का निर्माण एक सचेत शोधकर्त्ता, विवेकशील विचारक तथा एक सहृदय कवि के योग से हुआ है। इसलिए इनके निबन्धों में ज्ञान का आलोक, चिन्तन की गहराई और भावोद्रेककी तरलता एक साथ लक्षित है। सामान्यतः इनके निबन्ध विचारात्मक शैली में ही लिखे गये हैं। अपने निबन्धों में निर्णयों की पुष्टि के लिए उद्धरणों को प्रस्तुत करना इनका सहज स्वभाव रहा है। इसलिए उद्धरण-बहुलता इनकी निबन्ध-शैली की एक विशेषता बन गयी है।

इनके निबन्धों में भारतीय संस्कृति का उदात्त रूप व्यक्त हुआ है। इनके कथन प्रामाणिक हैं और इनकी शैली में आत्म-विश्वास की झलक मिलती है। इनकी भाषा प्रौढ़ तथा परिमार्जित है। इन्होंने मुख्यतः इतिहास, पुराण, धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्रों से शब्द-चयन किया है और शब्दों को उनके मूल अर्थ में प्रयुक्त

किया है। इनकी शैली का प्रधान रूप विवेचनात्मक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ये अपनी मौलिकता, विचारशीलता और विद्वत्ता के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे।

प्रस्तुत निबन्ध इनके **पृथिवी पुत्र** नामक निबन्ध-संग्रह से लिया गया है। इस निबन्ध में लेखक ने यह बताया है कि राष्ट्र का स्वरूप तीन तत्त्वों से मिलकर बनता है। ये तीन तत्त्व हैं, पृथिवी, जन और संस्कृति। पृथिवी की भावना के रूप में मानना और स्वयं को पृथिवी का पुत्र मानना राष्ट्रीयता को माता के उदय के लिए आवश्यक है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन का दृढ़ सम्बन्ध होना चाहिए। इसके साथ-साथ संस्कृति के विषय में भी लेखक ने मार्मिक विचार प्रकट किये हैं। लेखक के अनुसार सहृदय व्यक्ति प्रत्येक संस्कृति के आनन्द पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनन्दित हो उठता है।

———

राष्ट्र का स्वरूप

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनन्त काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथिवी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथिवी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथिवी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथिवी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्त्तव्य की पूर्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथिवी से जिस वस्तु का संबंध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसका कुशल-प्रश्न पूछने के लिए हमें कमर कसनी चाहिए। पृथिवी का सांगोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिए बहुत ही आनंदप्रद कर्त्तव्य माना जाता है। गाँवों और नगरों में सैकड़ों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, पृथिवी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ जो प्रतिवर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अंतर्गत आने चाहिए। उन मेघजलों से

परिवर्द्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अंधकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखायी देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं जिनके कारण वह वसुंधरा कहलाती है उससे कौन परिचित न होना चाहेगा? लाखों-करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथिवी के गर्भ में पोषण मिला है। दिन-रात बहनेवाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथिवी की देह को सजाया है। हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिए इन सब की जाँच-पड़ताल अत्यंत आवश्यक है। पृथिवी की गोद में जन्म लेने वाले जड़-पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यन्त सौन्दर्य के प्रतीक बन जाते हैं। नाना भाँति के अनगढ़ नग विन्ध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उनको जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नयी शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं। देश के नर-नारियों के रूप-मंडन और सौन्दर्य-प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है; अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पृथिवी और आकाश के अंतराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथिवी के चारों ओर फैले हुए गंभीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नये भाव राष्ट्र में फैलने चाहिए। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नयी किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोये हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और

अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिये बिना रीता न रहे। तभी मातृभूमि की पुष्कल समृद्धि और समग्र रूपमंडन प्राप्त किया जा सकता है।

जन

मातृभूमि पर निवास करने वाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अंग हैं। पृथिवी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असंभव है। पृथिवी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप संपादित होता है। जन के कारण ही पृथिवी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथिवी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथिवी का पुत्र है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

—भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।

जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमंडल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथिवी के साथ अपने सच्चे संबंध को प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का संबंध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के संबंध को पहचानता है उसी क्षण आनंद और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृ-भूमि के लिए इस प्रकार प्रकट होता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।

—माता पृथिवी को प्रणाम है। माता पृथिवी को प्रणाम है।

यह प्रणाम भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है। इसी दृढ़भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्त्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो

जन पृथिवी के साथ माता और पुत्र के संबंध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथिवी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवाभाव पुत्र का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना संबंध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्त्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथिवी पर बसने वाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के उदय के साथ जुड़ा हुआ है। वह समान अधिकार का भागी है। पृथिवी पर निवास करने वाले जनों का विस्तार अनंत है—नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले और अनेक धर्मों के मानने वाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे से आगे-पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो संबंध है उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथिवी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भरपूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़ कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अंधकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र को जागरण और प्रगति की एक-जैसी उदार भावना से संचालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अनंत होता है। सहस्रों वर्षों से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जब तक सूर्य की रश्मियाँ नित्य प्रातःकाल भुवन को अमृत से भर देती हैं तब तक राष्ट्रीय जन का

जीवन भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र-निवासी जन नयी उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिए आज भी अजर-अमर हैं। जन का संततवाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है, जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घातों का निर्माण करना होता है।

संस्कृति

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबंधमात्र है; संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि संभव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिये जाँय तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अंतर्निहित है। ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है। भूमि पर बसने वाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित संस्कृति का विकास करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं, परंतु उन सबका मूल-आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और बनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे

के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जल के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। आत्मा का जो विश्वव्यापी आनंद-भाव है वह इन विविध रूपों में साकार होता है। यद्यपि बाह्य रूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखायी पड़ते हैं, किन्तु आंतरिक आनंद की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक संस्कृति के आनंद-पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनंदित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विविध जनों से बने हुए राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यकर है।

गाँवों और जंगलों में स्वच्छंद जन्म लेने वाले लोकगीतों में, तारों के नीचे विकसित लोक-कथाओं में संस्कृति का अमित भंडार भरा हुआ है, जहाँ से आनंद की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचयकाल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म-विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र-संवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है। जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रश्न-अभ्यास

१. राष्ट्र का स्वरूप किस प्रकार निर्मित होता है? राष्ट्र को निर्मित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए।

२. वसुन्धरा का क्या आशय है? स्पष्ट कीजिए।

३. भूमि और जन के दृढ़ बन्धन का आधार क्या है?

४. भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ बताइए।

५. 'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ'—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

६. निम्नलिखित प्रयोगों का आशय समझाइए :—
सांगोपांग, अन्तराल, निष्कारण धर्म, रूपमंडन, तादात्म्य, सौन्दर्य-प्रसाधन।

७. निम्नलिखित वाक्यों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :—
(क) 'जंगल में जिस प्रकार·········राष्ट्र में रहते हैं।'
(ख) 'जहाँ अतीत वर्तमान के लिए·········हम स्वागत करते हैं।'
(ग) 'साहित्य, कला, नृत्य·········प्रकट करते हैं।'
(घ) 'पृथिवी से जिस·········कमर कसनी चाहिए।'
(ङ) 'जन का संततवाही जीवन·········निर्माण करना होता है।'
(च) 'बिना संस्कृति·········मस्तिष्क है।'

८. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर लेखक के विषय में निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :—
(अ) देश-प्रेम
(आ) सामाजिक विचार
(इ) पांडित्य

९. वासुदेवशरण अग्रवाल की भाषा-शैली की समीक्षा कीजिए।

———

जैनेन्द्र कुमार (सन् १९०५)

जैनेन्द्र प्रेमचन्दोत्तर युग के श्रेष्ठ कथाकार के रूप में विख्यात हैं। इनका जन्म अलीगढ़ के कौड़ियागंज नामक कस्बे में सन् १९०५ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही इनके पिता की मृत्यु हो गयी। इनका पालन-पोषण इनकी माता और मामा ने किया। इनकी प्रारंभिक शिक्षा हस्तिनापुर के जैन गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम में हुई। सन् १९१९ में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया किन्तु सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण इनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। इनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति छात्र जीवन से ही थी। जेल में स्वाध्याय के साथ ही इन्होंने साहित्य-सृजन का कार्य भी आरंभ किया। इनकी पहली कहानी—**खेल** सन् १९२८ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद ये निरंतर साहित्य-सृजन में प्रवृत्त रहे हैं।

जैनेन्द्र कुमार ने कहानी, उपन्यास, निबंध, संस्मरण, आदि अनेक गद्य-विधाओं को समृद्ध किया है। इनकी प्रमुख साहित्य कृतियाँ निम्नांकित हैं।

निबंध संग्रह :—१. **प्रस्तुत प्रश्न**, २. **जड़ की बात**, ३. **पूर्वोदय**, ४. **साहित्य, का श्रेय और प्रेय**, ५. **मंथन**, ६. **सोच-विचार**, ७. **काम, प्रेम और परिवार**।

उपन्यास :—१. **परख**, २. **सुनीता**, ३. **त्याग-पत्र**, ४. **कल्याणी**, ५. **विवर्त**, ६. **सुखदा**, ७. **व्यतीत**, ८. **जयवर्धन**, ९. **मुक्तिबोध**।

कहानियाँ :—१. **फाँसी**, २. **जयसंधि**, ३. **वातायन**, ४. **नीलमदेश की राजकन्या**, ५. **एक रात**, ६. **दो चिड़ियाँ**, ७. **पाजेब**।

(इन संग्रहों के बाद जैनेन्द्र की समस्त कहानियाँ दस भागों में प्रकाशित की गयी हैं।)

संस्मरण :—**ये और वे**।

अनुवाद :—१. **मन्दालिनी** (नाटक), २. **पाप और प्रकाश** (नाटक), ३. **प्रेम में भगवान** (कहानी संग्रह)। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने कुछ संपादन कार्य भी किया है।

जैनेन्द्र ने साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज, राष्ट्र आदि अनेक विषयों को लेकर निबंध रचना की है। इनके निबन्ध चिंतन-प्रधान और विचारात्मक हैं। इनका विचार करने का अपना ढंग है। कभी विषय को सीधे उठा लेना, कभी कुछ दूसरे प्रसंगों की चर्चा करते हुए मूल विषय पर आना, कभी मूल विषय के केन्द्रीय विचार-सूत्र की व्याख्या करते हुए विषय-विस्तार करना, कभी किसी कथा-संदर्भ को प्रस्तुत करके उसके भीतर के विचार-सूत्र को निकाल कर आगे बढ़ना और कभी पाठकों को आमंत्रित करके उनके साथ बातचीत करते हुए एक परिचर्चा के रूप में प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करना, इनकी विचार-पद्धति की विविध भंगिमाएँ हैं। किसी भी प्रश्न पर विचार करते हुए ये उसके आंतरिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं। इसलिए इनके निबंधों में दर्शन, मनोविज्ञान और अध्यात्म के शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। विचार की निजी शैली के कारण ही इनके निबंधों में व्यक्तिनिष्ठता आ गयी है।

जैनेन्द्र के निबंधों की भाषा मूलतः चिंतन की भाषा है। ये सोचा हुआ न लिखकर सोचते हुए लिखते हैं। इसलिए इनके विचारों में कहीं-कहीं उलझाव आ जाता है। इनकी विचारात्मक शैली में प्रश्न, उत्तर, तर्क, युक्ति, दृष्टान्त आदि तत्वों का समावेश उसे गूढ़ता प्रदान करता है।

व्याकरण की दृष्टि से इनकी भाषा कहीं-कहीं अपरिमार्जित लगती है। शब्द-चयन में जैनेन्द्र का दृष्टिकोण उदार है। वे सही बात को सही ढंग से उपयुक्त शब्दावली में कहना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें चाहे अंग्रेजी से शब्द लेना पड़े, चाहे उर्दू से, चाहे संस्कृत के तत्सम शब्दों का चयन करना पड़े, चाहे ठेठ घरेलू जीवन के शब्दों को ग्रहण करना हो, उन्हें इसमें कोई संकोच नहीं होता। वस्तुतः जैनेन्द्र की शैली उनके व्यक्तित्व का ही प्रतिरूप है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों के समक्ष **'जैनेन्द्र ऐसी सुलझन हैं जो पहेली से भी अधिक गूढ़ है।'** उनके व्यक्तित्व का यह सुलझा हुआ उलझाव उनकी शैली में भी लक्षित होता है।

प्रस्तुत निबंध में जैनेन्द्र ने भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में मौलिक दृष्टि से विचार किया है। उनके अनुसार ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर सहवर्ती हैं। भाग्य तो विधाता का ही दूसरा नाम है। विधाता की कृपा को पहचानना ही भाग्योदय है। मनुष्य का सारा पुरुषार्थ विधाता की कृपा प्राप्त करने में ही है। विधाता की कृपा प्राप्त होते ही मनुष्य का कर्त्तापन का अहंकार मिट जाता है और उसका भाग्योदय हो जाता है।

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो अलग तो समझे ही जाते हैं। मैं ऐसा समझ नहीं पाता।

भाग्य का उदय मेरे निकट निरर्थक शब्द नहीं है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द में आशय है कि मैं प्रधान नहीं हूँ, भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ मैं कर सकता हूँ, लेकिन भाग्योदय उससे स्वतंत्र तत्व है। हो सकता है कि लोगों को यह मानने में कठिनाई हो, मुझे इसे स्वीकार करने में उल्टे अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है, चलती-घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तर्यामी और सार्वकालिक रूप में हैं, उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ हो जाय, यही उसके लिए सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ की इसी जगह संगति है। अर्थात् भाग्य को कहीं से खींचकर उदय में लाना नहीं है, न अपने साथ ही ज्यादा खींचतान करनी है। सिर्फ मुँह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ रखा करते हैं। अपने से प्यार करते हैं,

अपने को ही चाहते हैं। अपने को आराम देते हैं, अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिए मानते हैं, सब कुछ को अपने अनुकूल चाहते हैं। चाहते यह हैं कि हम पूजा और प्रशंसा के केन्द्र हों और दूसरे आस-पास हमारे इसी भाव में मँडराया करें। इस वासना से हमें छुट्टी नहीं मिल पाती। तब भी होता है कि ऊपर से गहरा दुःख आ पड़ता है। वह हमें भीतर तक विदीर्ण कर जाता है। कुछ क्षण के लिए जैसे हमारी अहंता को शून्य कर डालता है। यह शून्यावस्था भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि दुःख भगवान का वरदान है। अहं और किसी औषध से गलता नहीं, दुःख ही भगवान का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है, अगर हम उसमें भगवान की कृपा को पहचान लें। उस क्षण यह सरल होता है कि हम अपने से मुड़ें और भाग्य के सम्मुख हों। बस इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है, उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा-सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाय बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्र के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई दूसरा लक्ष्य मानना बहुत बड़ी भूल करना होगा, ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

दुनिया में हम देखते तो हैं। लोग हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे हैं, दिन-रात जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। कोशिश में तो कमी नहीं है पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है ? कोशिश की पुरुषार्थ में सिद्धि मानें तो यह दृश्य नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकने वाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जाँय। अगर वे व्यर्थ प्रयास करते रहते हैं तो अंत में यह कह उठें कि क्या करें, भाग्य ही उल्टा है, तो इसमें गलती नहीं मानी जायगी। सच ही अधिकांश यह होता है कि उनका और भाग्य का संबंध उल्टा होता है। भाग्य के स्वयं उल्टे-सीधे होने का तो प्रश्न ही क्या है ? कारण, उसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। वहाँ दिशाएँ तक समाप्त हैं। विमुख और सम्मुख जैसा वहाँ कुछ

संभव ही नहीं है। तब होता यह है कि ऐसे निष्फल प्रयत्नों वाले स्वयं उससे उल्टे बने रहते हैं, अर्थात् अपने को ज्यादा गिनने लग जाते हैं, शेष दूसरों के प्रति अवज्ञा और उपेक्षाशील हो जाते हैं। कर्म में अधिकांश यह दोष रहता है, उसमें एक नशा होता है। नशा चढ़ने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यों कहिए कि जान-बूझकर भाग्य से अपना मुँह फेर लेता है। तब, उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है।

ऊपर के शब्दों में आप कृपया कर्म की अवज्ञा न देखें, उसके साथ अकर्म के महत्त्व को भी पहचानें। अकर्म का आशय कर्म का अभाव नहीं, कर्त्तव्य का क्षय है। 'मैं यह कर रहा हूँ, मैं वह करने वाला हूँ, मैं यह सब कुछ करके छोड़ूँगा' आदि आदि, अहंकारों से किया गया कर्म, यदि सिद्धि और सफलता न लाये बल्कि बंधन और क्लेश उपजाये, तो इसमें तर्क की कोई असंगति नहीं। पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह सहयोग क्षीण होता है। तब उसको पुरुषार्थ भी क्या कहना?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुष को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है? बल-विक्रम तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़-धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशुचेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ-पैर चलाना नहीं है, न क्रिया का वेग और कौशल है, बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्तृत्व भावना है। कामना से पीड़ित होकर पशु में अद्भुत पराक्रम दीख जा

सकता है। किन्तु, यह पुरुष के लिए ही संभव है कि वह आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज है, उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत ओछा है और अधूरा होता है। सचमुच हा इसे मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से अपने को अलग मानने का हमें अधिकार ही कहाँ है? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ लड़ाई ही समाप्त हो जाय। तब भाग्योदय का क्षण हमारे लिए नहीं आता, क्योंकि क्षण-क्षण और प्रतिक्षण हमें भाग्योदय अनुभव होता है। भाग्य यहाँ से वहाँ तक हमारे जीवन को उदित और आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी यत्न या श्रम नहीं करता। उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका कर्म इसलिए उसे थकाता नहीं, अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके कर्म में प्रतिक्रिया नहीं होती, न बंधन रह जाता है। मानों, कर्म उससे भाग्य ही कराता है, इसलिए प्रत्येक कर्म उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यंतर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर है। इसे बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं, फिर हम सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर-फिर भी पैदा होते हों, लेकिन हमारी यह अहंता तो यहीं-की-यहीं रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्व कुछ भी घटता है? जगत् और इतिहास तो चलता ही रहता है। तब इससे बड़ी मूर्खता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय वर्षों के साढ़े-तीन हाथ के सीमित अस्तित्व को सब कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल-त्रिलोक को अमान्य ठहरा दें। भाग्य को न

मानना इस तरह उस सब कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से है। सच पूछिए तो उदय उसी का है और हमारे पुरुषार्थ के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रणत भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषार्थ के परमार्थ को ही स्वीकार करता हूँ, उस अर्थ को किसी भी अर्थ में और तनिक भी मंद नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वार्थ बन जायगा, पुरुषार्थ वह नहीं कहलाएगा, अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में हैं, वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित है ही, केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इसलिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएँ नाना हैं और नानाविधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह-रहकर थक जाता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वन्द्व से थका मारता है। इस संसार को अभी राग-भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही विराग भाव से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अंत में झुँझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलाएगा अगर वह नत-नम्र होकर भाग्य को सिर आँखों लेगा और प्राप्त कर्त्तव्य में ही अपने पुरुषार्थ का इति मानेगा।

—जैनेन्द्र कुमार

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक की दृष्टि में भाग्य और पुरुषार्थ विरोधी न होकर सहयोगी हैं। उसके इस दृष्टिकोण से आप कहाँ तक सहमत हैं?

२. 'भाग्य तो विधाता का ही दूसरा नाम है' इस कथन के औचित्य पर विचार कीजिए।

३. 'जैसे सूरज की तरफ रुख होना सूर्योदय है वैसे ही भाग्य की तरफ मुख होना भाग्योदय है।' उपर्युक्त कथन की संगति पर विचार कीजिए।
४. 'पुरुष का अर्थ मेहनत ही नहीं सहयोग भी है।' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
५. निम्नलिखित सूत्र-वाक्यों की व्याख्या कीजिए :—
(क) 'दुःख ही भगवान का अमृत है।'
(ख) 'अकर्म का आशय, कर्म का अभाव नहीं, कर्त्तव्य का क्षय है।'
(ग) 'पुरुष अपने अहं से विमुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है।'
(घ) 'यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसे द्वन्द्व से थका मारता है।'
६. मानव जीवन में दुःख का क्या महत्त्व है? वह हमारे व्यक्तित्व को किस रूप में प्रभावित करता है? पठित निबंध के आधार पर उत्तर दीजिए।
७. अहंकार युक्त कर्म किस प्रकार बंधन और क्लेश उत्पन्न करता है?
८. पुरुषार्थ पशु चेष्टा से किस अर्थ में भिन्न है? स्पष्ट कीजिए।
९. लेखक ने भाग्योदय के महत्त्व को स्वीकार किया है किन्तु भाग्यवादी बनने का विरोध किया है। कारण स्पष्ट कीजिए।
१०. निम्नलिखित गद्य-खंडों की व्याख्या कीजिए :—
(क) 'भाग्य के प्रति.........लक्षण मानना चाहिए।'
(ख) 'कर्म में अधिकांश.........विस्मय ही क्या है?'
(ग) 'इच्छाएँ नाना हैं.........हाथ आती है।'
११. जैनेन्द्र की निबंध-शैली चिन्तनपरक है। पठित निबंध के आधार पर इसकी पुष्टि कीजिए।
१२. निम्नलिखित शब्द-युग्मों का स्वरचित वाक्यों में प्रयोग कीजिए :—
भाग्य और पुरुषार्थ, स्वार्थ-परमार्थ, प्रवृत्ति-निवृत्ति, विमुख-सन्मुख।
१३. क्या लेखक के भाग्य और पुरुषार्थ सम्बन्धी विचार आधुनिक वैज्ञानिक युग की विचार-धारा के अनुकूल हैं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

———

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (सन् १९०६)

स्वातन्त्र्य-संग्राम की ज्योति और पत्रकारिता की साधना में से जिन साहित्यकारों और गद्य-शैलीकारों अभ्युदय हुआ है, उसमें प्रभाकर जी का स्थान विशिष्ट है। । हिन्दी में लघुकथा, संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज की अनेक विधाओं का उन्होंने प्रवर्त्तन और पोषण किया है। वे एक आदर्शवादी पत्रकार रहे हैं। अतः उन्होंने पत्रकारिता को भौतिक स्वार्थों की सिद्धि का साधन न बनाकर उच्च मानवीय मूल्यों की खोज और स्थापना में ही लगाया है।

'प्रभाकर' जी का जन्म एक सामान्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता पं० रामदत्त मिश्र की आजीविका पूजा-पाठ और पुरोहिताई थी, पर विचारों की महानता और व्यक्तित्व का दृढ़ता में वे श्रेष्ठ थे। उनका जीवन अत्यन्त सरल और सात्त्विक था, पर 'प्रभाकर' जा की माता का स्वभाव बड़ा कर्कश और उग्र था। अपने एक संस्मरण 'मेरे पिता जी' में लेखक ने दोनों का परिचय देते हुए लिखा है—"वे दूध मिश्री तो माँ लाल मिर्च"। इनकी शिक्षा प्रायः नगण्य ही हुई। एक पत्र में उन्होंने लिखा है—"हिन्दा शिक्षा (सच मानें) पहली पुस्तक के दूसरे पाठ ख-ट-म-ल-खटमल, ट-म-ट-म टमटम। फिर साधारण संस्कृत। बस हरि ओम। यानी बाप पढ़े न हम।" उस किशोर अवस्था में जबकि व्यक्तित्व के गठन के लिए विद्यालयों की शरण आवश्यक होती है, 'प्रभाकर' जी ने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेना ही अधिक पसन्द किया। जब यह खुर्जा के संस्कृत विद्यालय में पढ़ रहे थे तब इन्होंने प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना आसिफ अली का भाषण सुना, जिसका इन पर इतना असर हुआ कि यह परीक्षा छोड़कर चले आये। उसके बाद इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र-सेवा में लगा दिया। ये सन् १९३०-३२ तक और सन् १९४२ में जेल में रहे और निरन्तर राष्ट्र के उच्च नेताओं के सम्पर्क में आते रहे। इनके लेख इनके राष्ट्रीय जीवन के मार्मिक संस्मरणों की जीवन्त झाँकियाँ हैं, जिनमें भारतीय स्वाधीनता के इतिहास के महत्त्वपूर्ण पृष्ठ भी हैं।

'प्रभाकर' जी के प्रसिद्ध प्रकाशित ग्रंथ हैं—१. आकाश के तारे, २. धरती

के फूल, ३. जिन्दगी मुस्कराई, ४. भूले बिसरे चेहरे, ५. दीप जले शंख बजे, ६. महके आँगन चहके द्वार, ७. माटी हो गई सोना, ८. बाजे पायलिया के घुंघरू, ९. क्षण बोले कण मुस्काये ।

इस समय उनके सम्पादन में दो पत्र सहारनपुर से प्रकाशित हो रहे हैं— **नया जीवन** और **विकास** । इन पत्रों से तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और शैक्षिक समस्याओं पर उनके निर्भीक आशावादी विचारों का परिचय प्राप्त होता है।

'प्रभाकर' जी का गद्य उनके जीवन में से ढल कर आया है । उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता, विचारों की सत्यता, अन्याय के प्रति आक्रोश, सहृदयता, उदारता और मानवीय करुणा की झलक मिलती है । अपने विचारों में वे उदार, राष्ट्रवादी और मानवतावादी हैं । इसीलिए देश-प्रेम और मानवीय निष्ठा के अनेक रूप उनके लेखों में मिलते हैं । उन्होंने हिन्दी गद्य को नये मुहावरे, नयी लोकोक्तियाँ और नयी सूक्तियाँ दी हैं । कविता उन्होंने नहीं लिखी पर कवि की भावुकता और करुणा उनके गद्य में छलकती है । यथार्थ जीवन की दर्दभरी अनुभूतियों से उनके गद्य में भी कविता का सौन्दर्य भर उठा है । इसीलिए उनके शब्द-निर्माण में जगह-जगह चमत्कार है, वार्तालाप में विदग्धता है, और परिस्थिति के चित्रण में नाटकीयता है । उनके वाक्य-विन्यास में भी विविधता रहती है । पात्र और परिस्थिति के साथ उन्होंने वाक्य-रचना बदली है । विनोद की परिस्थिति में छोटे वाक्य, चिन्तन की मनःस्थिति में लम्बे वाक्य और भावुकता के क्षणों में व्याकरण के कठोर बन्धन से मुक्त कवित्वपूर्ण वाक्य-रचना भी की है। निश्चय ही वे हिन्दी के एक मौलिक शैलीकार हैं । उनकी मुख्य गद्य-विधा रिपोर्ताज है ।

प्रस्तुत लेख में लेखक ने इन्दौर के राबर्ट नर्सिंग होम की एक साधारण घटना का इस प्रकार मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है कि वह हमें सच्चे धर्म अर्थात् मानव-सेवा और समता का पाठ पढ़ाने वाली बन गयी है । वहाँ उसने तीन सेवारत ईसाई महिलाओं को देखा—मदर मार्गरेट, मदर टेरेज़ा और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड । मदर मार्गरेट अत्यन्त बूढ़ी थीं, मदर टेरेज़ा अधेड़ आयु की और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड पूर्ण युवती । मदर टेरेज़ा फ्रांस की थी और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड जर्मनी की, जो दोनों ही देश दो विश्व युद्धों में विरोधी देश रहे हैं । पर मदर टेरेज़ा और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड इस संकीर्ण राष्ट्रीयता से मुक्त थीं । उन्हें एक ही ईसाई धर्म से उदार मानवता और निःस्वार्थ मानव सेवा का पाठ प्राप्त हुआ था । इस प्रकार लेखक ने अपने उदार मानवीय दृष्टिकोण को भी प्रकट किया है ।

राबर्ट नर्सिंग होम में

कल तक जिनका अतिथि था, आज उनका परिचारक हो गया; क्योंकि मेरी आतिथेया अचानक रोग की लपेट में आ गयीं और उन्हें इन्दौर के राबर्ट नर्सिंग होम में लाना पड़ा।

यह है सितम्बर १९५१!

रोग का आघात पूरे वेग में, परिणाम कँपकँपाता और वातावरण चिन्ता से घिरा-घेरा कि हम सब सुस्त। तभी मैंने चौंककर देखा कि अपने विशिष्ट धवल वेष से आच्छादित एक नारी कमरे में आ गयी हैं।

देह उनकी कोई पैंतालीस वसन्त देखी, वर्ण हिम-श्वेत, पर अरुणोदय की रेखाओं से अनुरंजित, कद लम्बा और सुता-सधा।

"लम्बा मुँह अच्छा नहीं लगता, बीमार के पास लम्बा मुँह नहीं।" आते ही उन्होंने कहा। भाषा सुथरी, उच्चारण साफ और स्वर आदेश का, पर आदेश न अधिनायक का, न अधिकारी का, पूर्णतया माँ का, जिसका आरंभ होता है शिकंजे से और अन्त गोद में।

हाँ, वह माँ ही थी : होम की अध्यक्षा मदर टेरेज़ा, मातृभूमि जिसकी फ्रान्स और कर्मभूमि भारत। उभरती तरुणाई से उम्र के इस ढलाव तक रोगियों की सेवा में लवलीन; यही काम, यही धाम, यही राग, यही चाव और बस यही यही!

उन्होंने रोगी के दोनों म्लान कपोल अपने चाँदनी-चर्चित हाथों से थपथपाये तो उसके सूखे अधरों पर चाँदी की एक रेखा खिंच आयी और मुझे लगा कि वातावरण का कुछ कम हो गया।

तभी एक खटाक और हमारा डाक्टर कमरे के भीतर। मदर ने

उसे देखते ही कहा, "डाक्टर, तुम्हारा बीमार हँस रहा है।"

"हाँ, मदर! तुम हँसी बिखेरती जा हो।" डाक्टर ने अपने जाने कितने अनुभव यों एक ही वाक्य में गूँथ दिये।

मैंने भावना से अभिभूत हो सोचा—जा बिना प्रसव किये ही माँ बन सकती है, वही तीस रुपये मासिक के योग-क्षेम पर बीस वर्ष के दिन और रात सेवा में लगा सकती है और वही पीड़ितों के तड़पते जीवन में हँसी बिखेर सकती है।

तीसरे पहर का समय, थर्मामीटर हाथ में लिये यह आयीं मदर टेरेज़ा और उनके साथ एक नवयुवती, उसी विशिष्ट धवल वेष में, गौर और आकर्षक। हाँ, गौर और आकर्षक, पर उसके स्वरूप का चित्रण करने में ये दोनों ही शब्द असफल। यों कहकर उसके आस-पास आ पाऊँगा कि शायद चाँदनी को दूध में घोलकर ब्रह्मा ने उसका निर्माण किया हो। रूप और स्वरूप का एक दैवी साँचा-सी वह लड़की। नाम उसका क्रिस्ट हैल्ड और जन्मभूमि जर्मनी।

फ्रान्स की पुत्री मदर टेरेज़ा और जर्मनी की दुहिता क्रिस्ट हैल्ड एक साथ, एक रूप, एक ध्येय, एक रस।

"तुम्हारा देश महान् है, जो युद्ध के देवता हिटलर को भी जन्म दे सकता है और तुम्हारे-जैसी सेवाशील बालिका को भी।" मैंने उससे कहा, तो दर्प से दीप्त हो वह स्टैच्यू हो गयी और अपना दाहिना पैर पृथ्वी पर वेग से ठोक कर बोली—"यस-यस।"

वह दूसरे कमरे में चली गयी, तो मदर टेरेज़ा को टटोला, "आप इस जर्मन लड़की के साथ प्यार से रहती हैं?"

बोली, "हाँ, वह भी ईश्वर के लिए काम करती है और मैं भी, फिर प्यार क्यों न हो?" मैंने नश्तर चुभाया—"पर फ्रांस को हिटलर ने पददलित किया था, यह आप कैसे भूल सकती हैं?"

नश्तर तेज था, चुभन गहरी पर मदर का कलेजा उससे अछूता रहा। बोलीं "हिटलर बुरा था, उसने लड़ाई छेड़ी, पर उससे इस लड़की

का भी घर ढह गया और मेरा भी; हम दोनों एक।" 'हम दोनों एक' मदर टेरेज़ा ने झूम में इतने गहरे डूब कर कहा कि जैसे मैं उनसे उनकी लड़की को छीन रहा था और उन्होंने पहले ही दाँव में मुझे चारों खाने दे मारा।

मदर चली गयीं, मैं सोचता रहा : मनुष्य-मनुष्य के बीच मनुष्य ने ही कितनी दीवारें खड़ी की हैं—ऊँची दीवारें, मजबूत फौलादी दीवारें, भूगोल की दीवारें, जाति-वर्ग की दीवारें, कितनी मनहूस, कितनी नगण्य, पर कितनी अजेय!

क्रिस्ट हैल्ड के पिता जर्मनी में एक कालेज के प्रिंसिपल हैं और उसने अभी पाँच वर्षों के लिए ही सेवा का व्रत लिया है।

रोगिणी के गहरे काले बाल देखकर उसने कहा, "तुम्हारे काले बाल मेरे पिता के हैं।" कहा कि वह स्मृतियों में खो सी गयी।

मुझे लगा कि मैं ही क्रिस्ट हैल्ड हूँ। अपने माता-पिता से हजारों मील दूर, एक अजनबी देश में, अकेली, खोयी, छली-सी और मेरी आँखें भर आयीं।

लड़की मेरे आँसुओं में डूब-डूब गयी और किनारा पाने को उसने जल्दी से उन्हें अपने रूमाल से पोंछ दिया। उसकी सदा हँसती आँखें सम हो नरम हो आयीं, पर जरा भी नम नहीं। मैंने पूछा "घर से चलते समय रोयी थीं तुम ?" उसका भोला उत्तर था, "ना माँ बहुत रोयी थी।"

फटी आँखों कुछ देर मैं उसे देखता रहा, तब कुछ बिस्किट उसे भेंट किये। बोली, "धन्यवाद, थैंक्यू, ताँग, शू।" वह अकसर हिन्दी अंग्रेजी जर्मन भाषाओं के शब्द मिलाकर बोलती है।

हम सब हँस पड़े और वह हँसती-हँसती भाग गयी।

मदर टेरेज़ा बातों के मूड में थीं। मैंने उनके हृदय-मानस में चोर दरवाजे से झांका—"मदर घर से आने के बाद फिर आप घर नहीं गयीं ? कभी मिलने-जुलने भी नहीं।" कान अपना काम कर चुके थे,

वाणी को अपना काम करना था, पर मदर ने उसकी राह मोड़ दी और तब मैंने सुनी यह कहानी :

कई वर्ष हुए फ्रान्स में विश्व-भर के पूजा-ग्रहों का एक सम्मेलन हुआ। भारत की दो मदर भी प्रतिनिधि होकर उस सम्मेलन में गयीं। वे फ्रान्स की ही थीं, उनके माता-पिता फ्रान्स में ही थे। उन्हें पता था कि बरसों बाद हमारी पुत्रियाँ भी आ रही हैं।

दोनों माताएँ अपनी पुत्रियों का स्वागत करने जहाज पर आयीं, पर विचित्र बात यह हुई कि वे दोनों अपनी पुत्रियों को पहचान न पायीं और आपस में कहती रहीं कि तुम्हारी बेटी कौन-सी है। अन्त में उनका नाम पूछा और तब गले मिलीं।

कहानी पूरी हुई, तो कई प्रश्न उठे, पर मदर टेरेज़ा उनके उठते न उठते भाग गयीं। निश्चय ही उन दोनों अन-पहचानी पुत्रियों में से एक वे स्वयं थीं।

बस इतना ही एक दिन मैं उनसे और कहला सका।

"घर से बहुत चिट्ठी आती हैं तो मैं यहाँ के किसी स्थान का फोटो भेज देती हूँ।"

रोग पूरे उभार पर था, रोगी के लिए असह्य। मदर टेरेज़ा ने कहा, "तुम्हारे लिए आज विनती करूँगी।" उनका चेहरा उस समय भक्त की श्रद्धा से प्रोद्भासित हो उठा था।

रोगी ने कहा, "कल भी करना मदर।" मदर के स्वर में मिश्री ही मिश्री पर मिश्री कूजे की थी जो मिठास तो तुरन्त देती थी, पर घुलती तुरन्त नहीं और बल का प्रयोग हो तो मसूढ़े तक को छील देती है। बोली, "ना, कल उसके लिए करूँगी, जिसे सबसे अधिक कष्ट होगा।" जैसे हजार वाल्ट का बल्ब मेरी आँखों में कौंध गया।

मैंने बहुतों को रूप से पाते देखा था, बहुतों को धन से और गुणों से भी बहुतों को पाते देखा था, पर मानवता के आँगन में समर्पण और प्राप्ति का यह अद्भुत सौम्य स्वरूप आज अपनी ही आंखों देखा कि

कोई अपनी पीड़ा से किसी को पाये और किसी का उत्सर्ग सदा किसी की पीड़ा के लिए ही सुरक्षित रहे ।

ऊपर के बरामदे में खड़े-खड़े मैंने एक जादू की पुड़िया देखी—जीती-जागती जादू की पुड़िया । आदमियों को मक्खी बनाने वाला कामरूप का जादू नहीं मक्खियों को आदमी बनाने वाला जीवन का जादू—होम की सबसे बुढ़िया मदर मार्गरेट । कद इतना नाटा कि उन्हें गुड़िया कहा जा सके, पर उनकी चाल में गजब की चुस्ती, क़दम में फुर्ती और व्यवहार में मस्ती; हँसी उनकी यों कि मोतियों की बोरी खुल पड़ी और काम यों कि मशीन मात माने । भारत में चालीस वर्षों से सेवा में रसलीन जैसे और कुछ उन्हें जीवन में अब जानना भी तो नहीं ।

आपरेशन के लिए एक रोगी आया, ऐश-आराम में पला जीवन । कहने की बेचारे को आदत, सहने का उसे क्या पता, पर कष्ट क्या पात्र की क्षमता देखकर आता है? "मदर मर जाऊँगा ।" उसने विह्वल होकर कहा । वातावरण चीत्कार की विह्वलता से भर गया, पर बूढ़ी मदर की हँसी के दीपक ने झपकी तक नहीं खायी ।

बोलीं, "कुछ नहीं, कुछ नहीं, आज है एवरीथिंग (सबकुछ), कल समथिंग (कुछ-कुछ) और बस तब नथिंग (कुछ नहीं)" और वे इतने जोर से खिलखिलाकर हँसीं कि आस-पास कोई होता तो झेंप जाता ।

एक रोगी उन्होंने देखा—चिन्ता के गर्त से उठ-उभरती रोगिणी । जोर से चुटकियाँ बजाकर वे किलकीं—जि-उती, जि-उती । यह है उनका जी उठी, जी उठी ।

यह अनुभव कितना चमत्कारी है कि यहाँ जो जितनी अधिक बूढ़ी है वह उतनी ही अधिक उत्फुल्ल, मुसकानमयी है । यह किस दीपक की जोत है ? जागरूक जीवन की ! लक्ष्यदर्शी जीवन की ! सेवा-निरत जीवन की ! अपने विश्वासों के साथ एकाग्र जीवन की । भाषा के भेद

रहे हैं, रहेंगे भी, पर यह जोत विश्व की सर्वोत्तम जोत है।

सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड का तबादला हो गया—अब वह धानी के भील सेवा केन्द्र में काम करेगी। ओह, उस जंगली जीवन में यह कर्पूरिका; पर कर्पूरिका तो अपने सौरभ में इतनी लीन है कि उसे स्वर्ग के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं, सूझता ही नहीं।

वह हम लोगों को मिलने आयी—हँसती, खिलती, बिखरती और कुदकती। यहाँ से जाने का उसे विषाद नहीं, एक-एक नयी जगह देखने का चाव उसके रोम-रोम में, पर मुझे उसका जाना कचोट सा रहा था। वह दूसरे रोगियों से मिलने चली गयी।

इधर-उधर आते-जाते वह दो-तीन बार कमरे के बाहर से निकली, पर फिर एक बार भी उसने उधर नहीं झाँका। मैंने अपने से कहा, "कोई लाख उलझे, उसे किसी में नहीं उलझना है।"

और तब सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड का, सच यह है कि सिस्टर मदर वर्ग का निस्संग निर्लिप्त, निर्द्वन्द्व जीवन पूरी तरह मेरे मानस चक्षुओं में समा गया और मैंने फिर आप-ही-आप कहा—"सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड, हम भारतवासी गीता को कण्ठ में रखकर धनी हुए, पर तुम उसे जीवन में ले कृतार्थ हुईं।"

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

प्रश्न-अभ्यास

१. आदर्श नर्स में कौन-कौन से गुण होते हैं ? इस लेख से उदाहरण देकर बताइए।

२. मदर टेरेज़ा का परिचय अपने शब्दों में दीजिए। उन्हें मदर कह कर क्यों सम्बोधित किया गया है ? लेखक इस विषय में क्या तर्क प्रस्तुत करता है ?

३. मदर टेरेज़ा और क्रिस्ट हैल्ड से लेखक ने क्या कहा ? लेखक को उनसे क्या उत्तर मिला ? उनके उत्तरों से आप उनके हृदय की किन विशेषताओं की ओर आकर्षित होते हैं ?

४. मदर टेरेज़ा से आत्मीयता स्थापित करने के लिए लेखक ने किन प्रश्नों को उनसे पूछा और उसे क्या उत्तर मिला ?

५. पाँच ऐसे उदाहरण दीजिए जिनमें कविता जैसी आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया हो। (एक उदाहरण "सूख अधरों पर चाँदी की रेखा")

६. लेखक ने भारतवासियों की किन दुर्बलताओं और विदेशियों के किन गुणों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है ? ऐसा करने में उसका क्या उद्दृश्य है ?

७. पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों में नारी किन-किन रूपों में हमारे सामने आती हैं ? इनमें से कौन-सा रूप सबसे अधिक महान् है ?

८. निम्नलिखित अवतरणों की व्याख्या कीजिए :—

(अ) 'मैंने भावना से······बिखेर सकती है।'

(इ) 'मैंने बहुतों को······सुरक्षित रहे।'

९. रिपोर्ताज किसे कहते हैं ? "प्रस्तुत निबन्ध एक सफल रिपोर्ताज है" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

———

महादेवी वर्मा (सन् १९०७)

महादेवी वर्मा का नाम लेते ही भारतीय नारी की शालीनता, गंभीरता, आस्था, साधना और कलाप्रियता साकार हो उठती है। वे जितनी श्रेष्ठ कवयित्री हैं, उतनी ही श्रेष्ठ गद्य-लेखिका भी। यह संयोग विरल ही होता है।

उनका विवाह बहुत छोटी आयु में हो गया था। उनके पति डाक्टर थे। शिक्षा पूरी होने पर उन्होंने अनुभव किया कि दाम्पत्य जीवन में उनकी रुचि नहीं है। अतः वे पृथक् रहने लगीं। वे सदैव प्रथम श्रेणी की छात्रा रहीं। उन्होंने सन् १९३३ में संस्कृत में एम० ए० इलाहाबाद विश्वविद्यालय से किया और उसी वर्ष 'प्रयाग महिला-विद्यापीठ' की प्राचार्या नियुक्त हो गयीं। उनके जीवन पर महात्मा गाँधी का और उनकी कला-साधना पर कविगुरु रवीन्द्रनाथ का विशेष प्रभाव पड़ा है।

महादेवी जी की प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ हैं—१. **नीरजा**, २. **नीहार**, ३. **रश्मि**, ४. **सान्ध्य गीत**, ५. **दीपशिखा** और ६. **यामा**। उनकी गद्य-रचनाओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। विचारात्मक गद्य का नमूना **शृंखला की कड़ियाँ** में मिलता है। इसे एक वृहत् सामाजिक निबन्ध कह सकते हैं। विवेचनात्मक गद्य-शैली में उन्होंने अपने साहित्यिक विचार प्रकट किये हैं। इस गद्य का प्रयोग उनकी काव्य-रचनाओं की भूमिका में तथा **साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध** नाम के संकलन में है। इसमें उनका समीक्षक रूप प्रकट हुआ है। तीसरे प्रकार का गद्य विशेष चित्रात्मक, भावमय और कवित्वपूर्ण है जो उनके रेखाचित्रों तथा संस्मरणों है। इस शैली के प्रसिद्ध संकलन हैं :—१. **अतीत के चलचित्र**, २, **स्मृति की रेखायें**, ३, **पथ के साथी**, और ४ **मेरा परिवार**। वे कुछ समय तक **चाँद** नाम की मासिक पत्रिका की सम्पादिका भी रही थीं। इनको सेकसरिया पुरस्कार और मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुए हैं। भारत सरकार ने इनको पद्म भूषण की उपाधि से सम्मानित किया है।

महादेवी जी की गद्य-शैली में दार्शनिक चिन्तन की गहराई, कवित्व की सम्वेदनशीलता और चित्रकार के रंगों और रेखाओं के रूप विद्यमान रहते हैं।

पूर्णतः संस्कृतमयी भाषा का प्रयोग करके भी उन्होंने अपनी गद्य-शैली को कृत्रिम और क्लिष्ट नहीं बनने दिया है। कवित्व की सरलता और चित्रकला की सजीवता के कारण उनका गद्य सदैव सरस बना रहा है। इसका मुख्य कारण यह भी है कि उनमें पांडित्य प्रदर्शन का भाव नहीं है। उनका गद्य उनके स्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, इसीलिए वह स्वाभाविक और सजीव है। यह बात उनके संस्मरणों के विषय में विशेष रूप से कही जा सकती है। उन्हीं में उनकी प्रतिनिधि गद्य-शैली है, जिसका अन्य लेखकों द्वारा अनुकरण भी किया गया और जिसके कारण उन्हें लोकप्रियता मिली है। इनमें रेखाचित्र, संस्मरण और निबंध तीनों की ही शैलियों का मिला-जुला रूप है। जहाँ वे अपने परिचित व्यक्तियों की आकृति का चित्रात्मक परिचय देती हैं वहाँ रेखाचित्र की शैली उभरती है, जहाँ पात्रों के शील-स्वभाव और अपने मन पर पड़ने वाले प्रभाव का परिचय देती हैं वहाँ संस्मरण का स्वरूप सामने आता है और जहाँ वे बीच-बीच में सामाजिक, साहित्यिक आदि प्रश्नों को उठा लेती हैं वहाँ इन लेखों में निबन्धात्मकता का पुट भी आ जाता है। महादेवी जी ने उर्दू-फारसी और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। कहीं-कहीं ग्रामीण बोलचाल के शब्द पात्रों के ही मुख से निकले हुए अवश्य प्रयोग किये हैं जैसे भक्तिन की पूर्वी बोली और चीनी भाई की अटपटी हिन्दुस्तानी। संस्कृत के तत्सम शब्दों के बीच सरल और छोटे शब्दों के प्रयोग द्वारा तथा लम्बे गुम्फित वाक्यों के बीच कुछ छोटे सरल वाक्यों द्वारा उन्होंने अपनी गद्य-शैली में एक कलात्मक संतुलन का निर्माण किया है।

इन रेखाचित्रमय संस्मरणात्मक निबन्धों में कुली से लेकर महाकवि तक, घर के आँगन से लेकर पर्वत-शिखरों तक और हरिण से लेकर गिलहरी तक का चित्रमय जीवन समाया हुआ है।

प्रस्तुत लेख **पथ के साथी** शीर्षक संस्मरणात्मक निबंधों की प्रस्तावना या पहला निबन्ध है। इसमें लेखिका ने कवीन्द्र रवीन्द्र से अपने तीन साक्षात्कारों का वर्णन किया है। इसके साथ ही उनकी महामानवता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के बहाने जीवन-द्रष्टा महान् साहित्यकारों को प्रणाम किया है। 'पथ के साथी' में केवल उन साहित्यकारों के ही साक्षात्कारों का संग्रह है जो एक ही युग में साथ-साथ साहित्य के पथ पर चले हैं। लेखिका ने अन्य सभी संस्मरणों के समान इसमें कविगुरु के बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व की सूक्ष्म झाँकी प्रस्तुत की है। उनके रूप की भव्यता, वेश की उज्ज्वलता, स्वभाव की सौम्यता, आचरण

की पवित्रता, वाणी की संगीतमयता और संपूर्ण जीवन में कला की व्यापकता विविध प्रकार के वाक्य-विन्यास और शब्द-प्रयोगों द्वारा चित्रित की गयी है। उनके आवास, परिवेश और पर्यावरण को भी लेखिका ने शब्दों में साकार कर दिया है। हिमालय के शिखरों में रामगढ़ स्थित रवीन्द्र के एक बंगले का वर्णन विशेष मार्मिक है, जहाँ कवि के प्रकृति-प्रेम, सन्तति-प्रेम, और मानव-प्रेम की स्मृतियाँ अवशिष्ट थीं। इस बंगले के तत्कालीन स्वामी एक अंग्रेज की शालीनता का दृश्य भी सामने आया है। शान्तिनिकेतन की कवि-कुटिया 'श्यामली' में और शान्तिनिकेतन के निमित्त धन संग्रह के लिए रंगमंच पर सूत्रधार की भूमिका में उपस्थित होते हुए लेखिका ने उनके दर्शन किये हैं। दिव्य-जीवन, महान् साहित्य और श्रेष्ठ कला के भी विषय में लेखिका ने अपने विचार बीच-बीच में पिरोकर संस्मरण में निबन्धत्व का पुट दे दिया है।

———

प्रणाम

कवीन्द्र रवीन्द्र उन साहित्यकारों में थे जिनके व्यक्तित्व और साहित्य में अद्भुत साम्य रहता है। जहाँ व्यक्ति को देखकर लगता है मानो काव्य की व्यापकता ही सिमट कर मूर्त हो गयी है और काव्य से परिचित होकर जान पड़ता है मानो व्यक्ति ही तरल होकर फैल गया है।

मुख की सौम्यता को घेरे हुए वह रजत आलोक-मंडल जैसा केशकलाप। मानो समय ने ज्ञान को अनुभव के उजले झीने तन्तु में कातकर उससे जीवन का मुकुट बना दिया हो। केशों की उज्ज्वलता के लिए दीप्त दर्पण जैसे माथे पर समानान्तर रहकर साथ चलनेवाली रेखाएँ जैसे लक्ष्य-पथ पर हृदय के विश्राम-चिह्न हों।

कुछ उजली भृकुटियों की छाया में चमकती हुई आँखें देखकर हिम-रेखा से घिरे अथाह नील जल-कुण्डों का स्मरण हो आना ही सम्भव था। दृष्टि-पथ की बाह्य सीमा छूते ही वह जीवन के रहस्य-कोष-सी आँखें, एक स्पर्श-मधुर सरलता राशि-राशि बरसा देती थीं अवश्य, परन्तु उस परिधि के भीतर पैर धरते ही वह सहज आमन्त्रण दुर्लंघ्य सीमा बन कर हमारे अन्तरतम का परिचय पूछने लगता था। पुतलियों की श्यामता से आती हुई रश्मि-रेखा जैसी दृष्टि से हमारे हृदय का निगूढ़तम परिचय भी न छिप सकता था और न बहुरूपिया बन पाता था।

अतिथि का हृदय यदि अपने मुक्त स्वागत का मूल्य नहीं आँक सकता, उसकी गहराई की थाह नहीं ले सकता तो उसे, उस असाधारण जीवन के परिचय भरे द्वार से अपरिचित ही लौट आना पड़ता था।

प्रत्येक बार पलकों का गिरना-उठना मानो हमीं को तोलने का क्रम था। इसी से हर निमिष के साथ कोई अपने-आपको सहृदय कलाकार के एक पग और निकट पाता था और कोई अपने-आपको एक पग और दूर।

उस व्यक्तित्व की, अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में फैली हुई विशालता, सामर्थ्य में और अधिक सघन होकर किसी को उद्धत होने का अवकाश नहीं देती, उसकी सहज स्वीकृति किसी को उदासीन रहने का अधिकार नहीं सौंपती और उसकी रहस्यमयी स्पष्टता किसी को कृत्रिम बन्धनों से नहीं घेरती। जिज्ञासु जब कभी साधारण कुतूहल में बिछलने लगता था तब वह स्नेह-तरलता हिम का दृढ़ स्तर बन जाने वाले जल के समान कठिन होकर उसे ठहरा लेना नहीं भूलती। इसी से उस असाधारण साधारणता के सम्मुख हमें यह समझते देर नहीं लगती थी कि मनुष्य मनुष्य को कुतूहल की संज्ञा देकर स्वयं भी अशोभन बन जाता है।

प्रशान्त चेतना के बन्धन के समान, मुख पर बिखरी रेखाओं के बीच से उठी हुई सुडौल नासिका को गर्व के प्रमाणपत्र के अतिरिक्त कौन-सा नाम दिया जावे! पर वह गर्व मानो मनुष्य होने का गर्व था, इतर अहंकार नहीं; इसी से उसके सामने मनुष्य, मनुष्य के नाते प्रसन्नता का अनुभव करता था, स्पर्धा या ईर्ष्या का नहीं।

दृढ़ता का निरन्तर परिचय देने वाले अधरों से जब हँसी का अजस्र प्रवाह बह चलता था तब अभ्यागत की स्थिति वैसी ही हो जाती थी जैसी अडिग और रन्ध्रहीन शिला से फूट निकलने वाले निर्झर के सामने सहज है। वह मुक्त हास स्वयं बहता, हमें बहाता तथा अपने हमारे बीच के विषम और रूखे अन्तर को अपनी आर्द्रता से भर कर कम कर देता था। उसका थमना हमारे लिए एक संगीत-लहरी का टूट जाना था जो अपनी स्पर्शहीनता से ही हमारे भावों को छू-छूकर जगाती हुई बह जाती है। वाणी और हास के बीच की निस्तब्धता

में हमें उस महान् जीवन के संघर्ष और श्रान्ति का एक अनिर्वचनीय बोध होने लगता था, परन्तु वह बोध, हार-जीत की न जाने किस रहस्यमय सन्धि में खड़े होकर दोहराने तिहराने लगता था............
'तुम इसे हार न कहना, क्लान्ति न मानना।'

अपनी कोमल उँगलियों से, असंख्य कलाओं को अटूट बन्धन में बाँधे हुए अपने प्रत्येक पद-निक्षेप को, जीवन की अमर लय का ताल बनाये हुए कलाकार जब आँखों से ओझल हो जाता था तब हम सोचने लगते, हमने व्यक्ति देखा है या किसी चिरन्तन राग को रूपमय!

युग के उस महान् सन्देशवाहक को मैंने तीन विभिन्न परिवेशों में देखा है और उनसे उत्पन्न अनुभूतियाँ कोमल प्रभात, प्रखर दोपहरी और कोलाहल में विश्राम का संकेत देती हुई सन्ध्या के समान हैं।

महान् साहित्यकार अपनी कृति में इस प्रकार व्याप्त रहता है कि उसे कृति से पृथक् रखकर देखना और उसके व्यक्तिगत जीवन की सब रेखाएँ जोड़ लेना कष्ट-साध्य ही होता है। एक को तोलने में दूसरा तुल जाता और दूसरे को नापने में पहला नप जाता। वैसे ही जैसे घट के जल का नाप-तोल घट के साथ है और उसे बाहर निकाल लेने पर घट के अस्तित्व-अनस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

बचपन में जैसे रामचरितमानस के दोहे-चौपाइयों में तिलक-तुलसी-कंठी युक्त गोस्वामी जी का चित्र ही नहीं दृष्टिगत हुआ, रघुवंश के कथाक्रम में जैसे शिखा, उपवीत युक्त कवि-कुलगुरु कालिदास की जीवन-कथा अपरिचित रही, वैसे ही गीतांजलि के मधुर गीतों में मुझे कवीन्द्र रवीन्द्र की सुपरिचित दुग्धोज्ज्वल दाढ़ी फहराती हुई नहीं मिली। कथा का सूत्र टूटने पर ही श्रोता कथा कहने वाले के अस्तित्व का स्मरण करता है।

वस्तुतः कवीन्द्र के व्यक्तिरूप और उनके व्यक्तिगत जीवन का अनुमान मुझे जिन परिस्थितियों में हुआ, उन्हें नितान्त गद्यात्मक ही कहा जायगा।

हिमालय के प्रति मेरी आसक्ति जन्मजात है। उसके पर्वतीय अंचलों में मौन हिमानी और मुखर निर्झरों, निर्जन वन और कलरव-भरे आकाश वाला रामगढ़ मुझे विशेष रूप से आकर्षित करता रहा है। वहीं नन्दा देवी, त्रिशूली आदि हिम-देवताओं के सामने निरन्तर प्रणाम में समाधिस्थ जैसे एक पर्वत-शिखर के ढाल पर कई एकड़ भूमि के साथ एक छोटा-सा बँगला कवीन्द्र का था जो दूर से उस हरीतिमा में पीले केसर के फूल जैसा दिखायी देता था। उसमें किसी समय वे अपनी रोगिणी पुत्री के साथ रहे थे और संभवतः वहाँ उन्होंने शान्ति-निकेतन जैसी संस्था की स्थापना का स्वप्न भी देखा था; पर रुग्ण पुत्री की चिरविदा के उपरान्त रामगढ़ भी उनकी व्यथा भरी स्मृतियों का ऐसा संगी बन गया जिसका सामीप्य व्यथा का सामीप्य बन जाता है। परिणामतः उनका बँगला किसी अंग्रेज अधिकारी का विश्राम हो गया।

जिस बँगले में मैं ठहरा करती थी, उसमें मुझे अचानक एक ऐसी आलमारी मिल गयी जो कभी कवीन्द्र के उपयोग में आ चुकी थी।

उसके असाधारण रंग, अनोखी बनावट तथा बन-तुलसी की गन्ध से सुवासित और बुरुंश के फूलों की लाल और जंगली गुलाब की सफेद पंखुड़ियों का पता देने वाली दराजों ने मौन में जो कहा उसे मेरी कल्पना ने रंगीन रेखाओं में बाँध लिया। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में भी कल्पना और अनुमान अपना धूप-छाँही ताना-बाना बुनते रहते हैं। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा से परे निबंध सृजन का अधिकार मिल सके तो उनकी स्वच्छन्द क्रियाशीलता के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है।

बँगले के अंग्रेज स्वामी ने अत्यन्त शिष्टाचारपूर्वक मुझे भीतर-बाहर सब दिखा दिया, पर उसके सौजन्य के आवरण से विस्मय भी झलक रहा था। सम्भवतः ऐसे दर्शनार्थी विरल होने के कारण। बरामदा, जिसकी छोटे-छोटे शीशोंमय खिड़कियों पर पड़कर एक किरण

अनेक ज्योति-बूँदों में बिखर-सँवर कर भीतर आती थी, द्वार पर सुकुमार सपनों जैसी खड़ी लताएँ जिनका हर ऋतु अपने अनुरूप शृंगार करती थी, देवदारु के वृक्ष जिनकी शाखाएँ निर्वाध प्रतीक्षा में झुकी हुई-सी लगती थीं ; आदि ने कवि-कथा की जो संकेतलिपि प्रस्तुत की, उसमें आस-पास रहने वाले ग्रामीणों ने अपनी स्मृति से मानवी रंग भर दिया । किसी वृद्ध ने सजल आँखों के साथ कहा कि उस महान् पड़ोसी के बिना उसके बीमार पुत्र की चिकित्सा असम्भव थी । किसी वृद्धा ग्वालिन ने अपनी बूढ़ी गाय पर हाथ फेरते हुए तरल स्वर में बताया कि उनकी दवा के अभाव में उसकी गाय का जीवन कठिन था । किसी अछूत शिल्पकार ने कृतज्ञता से गद्‌गद् कण्ठ से स्वीकार किया कि उनकी सहायता के बिना उसकी जली हुई झोपड़ी का फिर बन जाना कल्पना की बात थी ।

सम्बलहीन मानव से लेकर खड्ड में गिर कर टाँग तोड़ लेने वाले भूटिया कुत्ते तक के लिए उनकी चिन्ता स्वाभाविक और सहायता सुलभ रही, इस समाचार ने कल्पना-विहारी कवि में सहृदय पड़ोसी और वात्सल्य भरे पिता की प्रतिष्ठा कर दी । इसी कल्पना-अनुमानात्मक परिचय की पृष्ठभूमि में मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में रवीन्द्र को देखा ।

जैसे धृतराष्ट्र ने लौह-निर्मित भीम को अपने अंक में भरकर चूर-चूर कर दिया था—वैसे ही प्रायः पार्थिव व्यक्तित्व कल्पना-निर्मित व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड कर देता है । पर इसे मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ कि रवीन्द्र के प्रत्यक्ष दर्शन ने मेरी कल्पना-प्रतिमा को अधिक दीप्त सजीवता दी। उस कहीं से खण्डित नहीं किया। पर उस समय मन में कुतूहल का भाव ही अधिक था जो जीवन के शैशव का प्रमाण है ।

दूसरी बार, जब उन्हें शान्तिनिकेतन में देखने का सुयोग प्राप्त हुआ तब मैं अपना कर्मक्षेत्र चुन चुकी थी । वे अपनी मिट्टी की कुटी

श्यामली में बैठे हुए ऐसे जान पड़े मानो काली मिट्टी में अपनी उज्ज्वल कल्पना उतारने में लगा हुआ कोई अद्भुतकर्मा शिल्पी हो।

तीसरी बार उन्हें रंगमंच पर सूत्रधार की भूमिका में उपस्थित देखा। जीवन की सन्ध्या-बेला में शान्तिनिकेतन के लिए उन्हें अर्थ-संग्रह में यत्नशील देखकर न कुतूहल हुआ न प्रसन्नता; केवल एक गम्भीर विषाद की अनुभूति से हृदय भर आया। हिरण्य-गर्भा धरतीवाला हमारा देश भी कैसा विचित्र है! जहाँ जीवन-शिल्प की वर्णमाला भी अज्ञात है वहाँ वह साधनों का हिमालय खड़ा कर देता है और जिसकी उँगलियों में सृजन स्वयं उतर कर पुकारता है उसे साधन शून्य रेगिस्तान में निर्वासित कर जाता है। निर्माण की इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि शिल्पी और उपकरणों के बीच में आग्नेय रेखा खींचकर कहा जाय कि कुछ नहीं बनता या सब कुछ बन चुका!

कल्पना के सम्पूर्ण वायवी संसार को सुन्दर-से-सुन्दरतम बना लेना जितना सहज है, उसके किसी छोटे अंश को भी स्थूल मिट्टी में उतार कर सुन्दर बनाना उतना ही अधिक कठिन रहता है। कारण स्पष्ट है। किसी की सुन्दर कल्पना का अस्तित्व किसी को नहीं अखरता, अतः किसी से उसे संघर्ष नहीं करना पड़ता। पर प्रत्यक्ष जीवन में तो एक के सुन्दर निर्माण से दूसरे के कुरूप निर्माण को हानि पहुँच सकती है। अतः संघर्ष सृजन की शपथ बन जाता है। कभी-कभी तो यह स्थिति ऐसी सीमा तक पहुँच जाती है कि संघर्ष साध्य का भ्रम उत्पन्न कर देता है।

अपनी कल्पना को जीवन के सब क्षेत्रों में अनन्त अवतार देने की क्षमता रवीन्द्र की ऐसी विशेषता है जो अन्य महान् साहित्यकारों में भी विरल है।

भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार प्राप्त होता है। भाव में कोई मार्मिक परिष्कार

लाना, ज्ञान में कुछ सर्वथा नवीन जोड़ना अथवा कर्म में कोई नवीन लक्ष्य देना अपने आप में बड़े काम हैं अवश्य; परन्तु जीवन तो इन सब का सामञ्जस्यपूर्ण संघात है, किसी एक में सीमित और दूसरों से विच्छिन्न नहीं। बुद्धि, हृदय अथवा कर्म के अलग-अलग लक्ष्य संसार को दार्शनिक, कलाकार या सुधारक दे सकते हैं, परन्तु इन सब की समग्रता नहीं। जो जीवन को सब ओर से एक साथ स्पर्श कर सकता है उस व्यक्ति को युग-जीवन अपनी सम्पूर्णता के लिए स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है। और ऐसा, व्यापकता में मार्मिक स्पर्श साहित्य में जितना सुलभ है उतना अन्यत्र नहीं। इसी से मानवता की यात्रा में साहित्यकार जितना प्रिय और दूरगामी साथी होता है उतना केवल दार्शनिक, वैज्ञानिक या सुधारक नहीं हो पाता। कवीन्द्र में विश्व-जीवन ने ऐसा ही प्रियतम सहयात्री पहचाना, इसी से हर दिशा में उन पर अभिनन्दन के फूल बरसे, हर कोने में मानवता ने उन्हें अर्घ्य दिया और युग के श्रेष्ठतम कर्मनिष्ठ बलिदानी साधक ने उनके समक्ष स्वस्तिवाचन किया।

यह सत्य है कि यग के अनेक अभावों की अभिशप्त छाया से वे मुक्त रह सके और जीवन के प्रथम चरण में ही उनके सामने देश-विदेश का इतना विस्तृत क्षितिज खुल गया जहाँ अनुभव के रंगों में पुरानापन सम्भव नहीं था। परन्तु इतना ही सम्बल किसी को महान् साहित्यिक बनाने की क्षमता नहीं रखता। थोड़े जलवाले नदी-नाले कहीं भी समा सकते हैं, परन्तु सम्पूर्ण वेग के साथ सहस्रों धाराओं में विभक्त होकर आकाश की ऊँचाई से धरती के विस्तार में उतरने-वाली गंगा के समाने के लिए शिव का जटाजूट ही आवश्यक होगा और ऐसा शिवत्व केवल बाह्य सज्जा या सम्बल में नहीं रहता।

रवीन्द्र ने जो कुछ लिखा है उसका विस्तार और परिमाण हृदयंगम करने के लिए हमें यह सोचना पड़ता है कि उन्होंने क्या नहीं लिखा।

जीवन के व्यापक विस्तार में बहुत कम ऐसा मिलेगा जिसे, उन्होंने नया आलोक फेंककर नहीं देखा और देखकर जिसकी नयी व्याख्या नहीं की। जीवन के व्यावहारिक धरातल पर अथवा सूक्ष्म मनोजगत में उन्हें कुछ भी इतना क्षुद्र नहीं जान पड़ा जिसकी उपेक्षा कर बड़ा बना जा सके, कोई भी इतना अपवित्र नहीं मिला जिसके स्पर्श के बिना व्यापक पवित्रता की रक्षा हो सके और कुछ भी इतना विच्छिन्न नहीं दिखायी दिया जिसे पैरों से ठेलकर जीवन आगे बढ़ सके।

इसी से वे कहते हैं "तुमने जिसको नीचे फेंका वही आज तुम्हें पीछे खींच रहा है, तुमने उसे अज्ञान और अन्धकार के गह्वर में छिपाया वही तुम्हारे कल्याण को ढक कर, विकास में, घोर बाधाएँ उत्पन्न कर रहा है।"

क्षुद्र कहे जाने वाले के लिए उनका दीप्त स्वर बार-बार ध्वनित-प्रतिध्वनित होता रहता है, "तुम सब बड़े हो, अपना दावा पेश करो। इस झूठी दीनता-हीनता को दूर करो।"

विशाल, शिव और सुन्दर के पक्ष का समर्थन सब कर सकते हैं क्योंकि वे स्वतः प्रमाणित हैं। परन्तु, विशालता, शिवता और सुन्दरता पर, क्षुद्र, अशिव और विरूप का दावा प्रमाणित कर उन्हें विशाल, शिव और सुन्दर में परिवर्तित कर देना किसी महान् का ही सृजन हो सकता है।

अमृत को अमृत और विष को विष रूप में ग्रहण करके तो सभी दे सकते हैं। परन्तु विष में रासायनिक परिवर्तन कर और उसके तत्त्वगत अमृत को प्रत्यक्ष करके देना किसी विदग्ध वैद्य का ही कार्य रहेगा।

कवीन्द्र में ऐसी क्षमता थी और उनकी इस सृजन-शक्ति की प्रखर विद्युत् को आस्था की सजलता सँभाले रहती थी। यह बादल भरी बिजली जब धर्म की सीमा छू गयी तब हमारी दृष्टि के सामने

फैले रूढ़ियों के रन्ध्रहीन कुहरे में विराट् मानव-धर्म की रेखा उद्भासित हो उठी। जब वह साहित्य में स्पन्दित हुई तब जीवन के मूल्यों की स्थापना के लिए, तत्त्व सत्यमय, सत्य शिवमय और शिव सौन्दर्यमय होकर मुखर हो उठा। जब चिन्तन को उसका स्पर्श मिला तब दर्शन की भिन्न रेखाएँ तरल होकर समीप आ गयीं।

उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा जो पहले नहीं कहा गया था, पर इस प्रकार सब कुछ कहा है जिस प्रकार किसी अन्य युग में नहीं कहा गया।

साहित्य को उसकी बाह्य रूपात्मकता में तोलना-नापना सहज है। किसने कितने उपन्यास लिखे, किसने कितने नाटक, किसके महाकाव्यों का परिणाम क्या है, किसके गीतों की संख्या कितनी है, किसकी शैली कैसी है, किसका छन्द कैसा है आदि में जो तोल-नाप है वह साहित्य की आत्मा को नहीं तोलता-नापता। ऊँचे-नीचे कगार या सूखे-हरे तट नदी की सीमा बनाते हैं, पर नदी नहीं बना सकते। इतना ही नहीं साहित्यकार की सभी उपलब्धियाँ भी समान नहीं होतीं। गोताखोर समुद्र के अतल गर्भ में न जाने कितने शंख, घोंघे, सीप, सेवार आदि लाकर तट पर ऊँचा पहाड़ बना देता है। यह भी उसकी उपलब्धि ही कही जायगी, पर उसके अनेक प्रयासों का एक मूल्यांकन मोती की उपलब्धि मात्र है।

केवल महान् जीवन-द्रष्टा साहित्यकार की ही हर उपलब्धि का महत्त्व होता है। और रवीन्द्र ऐसे ही द्रष्टा साहित्यकार हैं। वे क्षुद्र लगने वाले मानव की महामानवता के वैतालिक हैं, अतः हर युग के मानव की विजय-यात्रा के साथी रहेंगे। वे अपराजेय विश्वास के स्वर में कहते हैं, "अरुण आभा के अन्धकार में आवृत रहने पर भी जिस प्रकार प्रभातकालीन पक्षी गाकर सूर्योदय की घोषणा करता है, उसी प्रकार मेरा अन्तःकरण भी वर्तमान युग के सघन अन्धकार में गा-गा कर घोषित कर रहा है कि हमारा उज्ज्वल और महान् भविष्य

समीप है । उसके अभिनन्दन के लिए हमें प्रस्तुत होना चाहिए ।"

जो तर्क से यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य पशु के समान परस्पर युद्ध करते रहेंगे, उन्हें वे उत्तर देते हैं, "मैं उस पुरातन युग का स्मरण दिलाता हूँ जब प्रकृति भीमकाय जीवों (राक्षसों) को जन्म देती थी । उस समय कौन साहसी यह विश्वास कर सकता था कि उन भीषण दानवों का विनाश सम्भव है, किन्तु उसके उपरान्त एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई ।

अचानक शारीरिक विशालता के निशोत्सव में मानव—निःशस्त्री, असहाय, नग्न और कोमल-काय मानव प्रकट हुआ । उसने अपनी शक्तियों को पहिचाना और बुद्धि-बल से जड़-सत्ता का सामना किया । दुर्बल शरीरवाला मनुष्य भीमकाय दानवों पर विजयी हुआ………"

मानव आत्मा का जयघोष करो ।'

मनुष्य की स्वभावगत महानता की उन्होंने केवल कल्पना नहीं की थी, वरन् अथक अन्वेषण करके उसे अपने साहित्य से सिद्ध भी किया है । इसी से जन-साधारण की चर्चा में वे साहसपूर्वक घोषणा करते हैं । 'मुझे जन तो बहुत मिले पर साधारण कोई नहीं मिला है ।'

सत्य है, हीरे को बहुमूल्य मान लेने पर उसका कौन-सा खण्ड मूल्यहीन कहा जायगा !

जिनकी छाया में हमारे युग की यात्रा आरम्भ हुई है, जिनकी वाणी में हमने अपने नये जीवन की प्रथम पुकार सुनी है और जिनकी दृष्टि ने अन्धकार को भेदकर हमें भविष्य का पहला उज्ज्वल संकेत दिया है, उनके अवश्यंभावी अभाव की कल्पना भी हमारे लिए सह्य नहीं होती । इसी से रवीन्द्र के महाप्रयाण ने सब को स्तब्ध कर दिया । मृत्यु उनके निकट आतंक का कारण नहीं थी, क्योंकि जिस भारतीय विचारधारा के वे आस्थावान व्याख्याकार थे उसमें जीवन अनन्त है ।

वे अपनी एक कविता में गाते हैं, 'आज विदा-वेला में मैं स्वीकार

करूँगा कि वह मेरे लिए विपुल विस्मय का विषय था। आज मैं गाऊँगा हे मेरे जीवन ! हे मेरे अस्तित्व के सारथी ! तुमने अनेक रणक्षेत्र पार किये हैं। आज नवीनतर विजय-यात्रा के लिए मुझे मृत्यु के अन्तिम रण में ले चलो।'

* * *

इसी बीच कलकत्ते से एक बन्धु आये। मौन भाव से उन्होंने मिट्टी के पात्र में संगृहीत, कवीन्द्र के पार्थिव अवशेष की भस्म मुझे भेंट की।

भीड़, आँधी, पानी से संघर्ष कर इसे उन्होंने मेरे लिए प्राप्त किया है, सोच कर हृदय भर आया। मानस-पट पर शान्तिनिकेतन का प्रार्थना-भवन उदय हो गया। उसके चारों ओर लगे रंग-बिरंगे शीशों से छनकर आता हुआ आलोक भीतर इन्द्रधनुषी ताना-बाना बुन देता था। संगमरमर की चौकी पर रखे हुए चम्पक-फूलों पर धूप-धूम भ्रमरों के समान मँडराता था। उसके पीछे बैठे कवीन्द्र की स्थिर दिव्य आकृति और उससे सब ओर फैलती हुई स्वर की निस्तब्ध तरंगमाला।

तो क्या यह उसी वीणा का भस्मशेष है जिसके तारों पर दीपक-राग लहराता था ?

जान पड़ा जैसे उस साहित्यकार-अंग्रेज ने हमारे अनजान में ही हमारे छोर में अपना उत्तराधिकार बाँधकर विदा ली है। दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्त्तव्य उसे सौंप कर चुपचाप डूब जाता है तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना ही उसका जानेवाले को प्रणाम है।

—महादेवी वर्मा

प्रश्न-अभ्यास

१. रेखाचित्र और संस्मरण में क्या अन्तर और समानता होती है ? क्या इनमें निबन्ध-शैली का भी पुट होता है ? इस लेख से उदाहरण देकर तीनों की विशेषताओं को बताइए ।

२. इस लेख में महादेवी जी के व्यक्तित्व की झलक निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर सोदाहरण समझाइए ।

(अ) नारी-स्वभाव

(आ) चित्रकला का अनुराग

(इ) प्रकृति-प्रेम

(ई) करुणा

(उ) वैराग्य

३. लेखिका ने श्रेष्ठ साहित्यकार के क्या गुण बताये हैं ? अपनी भाषा में समझाइए ।

४. अपने को पर्यटक मान कर रामगढ़ स्थित रवीन्द्र के बँगले का वर्णन कीजिए।

५. निम्नलिखित प्रश्नों के लघु उत्तर दीजिए :—

(अ) रामगढ़ कहाँ है ? कवि ने यहाँ बँगला क्यों बनाया था ? फिर उसे छोड़ क्यों दिया ?

(आ) रवीन्द्रनाथ सूत्रधार की भूमिका में क्यों उतरे थे ?

६. निम्नलिखित वाक्यों एवं अवतरणों की व्याख्या कीजिए :—

(१) 'प्रत्येक बार पलकों का गिरना-उठना मानों हमीं को तोलने का क्रम था ।'

(२) 'अपनी कोमल उँगलियों से······चिरन्तन राग को रूपमय ।'

(३) 'जिसकी उँगलियों में सृजन स्वयं उतर कर पुकारता है ।'

(४) 'हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में······कुछ कहना ही व्यर्थ है ।'

(५) 'भावना, ज्ञान और कर्म······विछिन्न नहीं ।'

(६) 'अमृत को अमृत······वैद्य का ही कार्य रहेगा ।'

(७) 'कवीन्द्र में ऐसी क्षमता······समीप आ गयीं ।'

७. लेखिका ने रवीन्द्रनाथ की किन विशेषताओं को प्रकट किया है ?

८. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर महादेवी की भाषा-शैली की तीन प्रमुख विशेषताओं को सोदाहरण समझाइए ।

९. 'महादेवी का गद्य भी काव्यमय होता है' इस उक्ति की व्याख्या कीजिए ।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (सन् १९०७)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के अत्यन्त सम्मानित वयोवृद्ध साहित्यकार हैं। 'आचार्य' पद उनके नाम के साथ सहज रूप में जुड़ा हुआ है। उनका जन्म एक विद्वान् ब्राह्मण-परिवार में ज़िला बलिया के दूबे का छपरा ग्राम में हुआ।

संस्कृत और ज्योतिष की शिक्षा उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। सन् १९३० में इन्होंने काशी विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की। इनकी प्रतिभा का विशेष स्फुरण कविगुरु रवीन्द्रनाथ की विश्वविख्यात संस्था शान्तिनिकेतन में हुआ, जहाँ यह सन् १९४० से १९५० तक हिन्दी भवन के निदेशक के रूप में रहे। यहीं इनके विस्तृत स्वाध्याय और सृजन का शिलान्यास हुआ। सन् १९४९ में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९५० में यह काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष नियुक्त हुए। सन् १९५७ में इन्हें पद्म-भूषण की उपाधि से विभूषित किया गया। सन् १९५८ में यह राष्ट्रीय ग्रंथ न्यास के सदस्य बने। इसके बाद सन् १९६० से १९६६ तक यह पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् इन्होंने भारत सरकार की हिन्दी सम्बन्धी विविध योजनाओं का दायित्व ग्रहण किया। इस समय यह उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी ग्रंथ अकादमी से सम्बन्धित हैं।

आचार्य द्विवेदी का साहित्य बहुत विस्तृत है। कविता और नाटक के क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश नहीं किया। उनकी कृतियाँ वर्गीकरण के आधार पर निम्नलिखित हैं :—

(अ) इतिहास :—१. **हिन्दी साहित्य, २. हिन्दी साहित्य का आदिकाल ३. हिन्दी साहित्य की भूमिका।**

(आ) निबन्ध संग्रह :—४. **अशोक के फूल, ५. कुटज, ६. विचार-प्रवाह, ७. विचार और वितर्क, ८. कल्पलता, ९. आलोक पर्व।**

(इ) साहित्यिक, शास्त्रीय और आलोचनात्मक ग्रंथ :—१०. **कालिदास की**

लालित्य योजना, ११. सूरदास, १२. कबीर, १३. साहित्य सहचर, १४. साहित्य का मर्म ।

(ई) उपन्यासः—**१५. बाणभट्ट की आत्मकथा, १६. चारु चन्द्र लेख, और १७. पुनर्नवा ।**

हिन्दी के उच्चस्तरीय ललित निबन्धकारों में आचार्य द्विवेदी का मूर्धन्य स्थान है । आत्माभिव्यंजना के साथ-साथ साहित्य, संस्कृति, प्रकृति-सुषमा, लोक-जीवन और समकालीन समस्याओं का मिला-जुला रसास्वादन कराने में उनकी शैली अभिनव है। उनके निबंधों में एक ओर महाभारत, कालिदास, बाणभट्ट आदि के संस्कृत ग्रंथों की सूक्तियाँ सँजोयी रहती हैं तो दूसरी ओर रवीन्द्र, कबीर, रज्जब, सूर, तुलसी, आदि के बंगला और हिन्दी कवियों की वाणी की छटा भी दृष्टिगोचर होती चलती है। साथ ही कहीं-कहीं भारतीय संस्कृति के स्मृति-चिह्न उभर कर आते हैं, तो कहीं भारत की निसर्ग शोभा का संदेश लेकर अशोक के फूल, देवदारु की छाया और कुटज की शाखाएँ झाँक जाती हैं । उनका उन्मुक्त व्यक्तित्व रह-रहकर उनके निबन्धों में विनोद की हिलोर उठाता चलता है, पर कभी-कभी वे अपनी संस्कृति की विस्मृति अथवा मानव के पतन के विषाद से संजीदा भी दिखायी पड़ते हैं । देश-प्रेम और मानव-प्रेम का व्यापक चित्र उनके साहित्य के पटल पर अंकित है । डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने उनके निबन्धों की विशेषता बताते हुए लिखा है—"**द्विवेदी जी बहुश्रुत हैं और हैं कथाकौतुकी भी । उनके निबन्धों का सबसे मुख्य गुण है किसी एक विषय को लेकर अनेक विचारों को छेड़ देना—जिस प्रकार वीणा के तार को छेड़ने से बाकी सब तार झंकृत हो उठते हैं, उसी प्रकार उस एक विषय को छूते ही लेखक की चित्त-भूमि पर बँधे हुए सैकड़ों विचार बज उठते हैं ।**" द्विवेदी जी के निबन्ध अनेक विद्याओं के ज्ञान-भण्डार हैं । उनमें इतिहास, पुरातत्व, ज्योतिष, दर्शन और शास्त्रों का सुगम सार-संग्रह है । ज्ञान-गरिमा के साथ लालित्य का उन्होंने अद्भुत योग किया है ।

कुटज हिमालय के ऊँचे शृंगों पर सूखी शिलाओं के बीच उगने वाला एक जंगली वृक्ष है । कालिदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य मेघदूत में इसी के फूलों से मेघ की पूजा कराकर इसे अमर बना दिया है। यद्यपि इसमें न कोई विशेष शोभा होती है और न ही विशेष फल-फूल, फिर भी लेखक ने उसमें मानव-जीवन के लिए महान् सन्देशों की झलक देखी है । इसमें से तीन प्रमुख सन्देश हैं—उसकी अपराजेय जीवन-शक्ति, केवल अपने लिए नहीं वरन् दूसरों के लिए भी जीना, और

सुख-दुःख से अतीत रह कर आत्म-विश्वासपूर्वक एवं निर्लिप्त रह कर शान के साथ जीना। वह आँधियों और लू के बीच पल कर अपनी वीरता का परिचय देता है। सूखी शिलाओं से भी रस प्राप्त करता है और छाया प्रदान करता है—यही उसकी लोक-सेवा है। सभी परिस्थितियों को समान भाव से स्वीकार करता है, यही उसका समत्व योग है।

वह वीर है, परोपकारी है, योगी है। इस प्रकार लेखक ने प्रकृति में से जीवन का पाठ ग्रहण करने की दिशा दिखायी है।

———

कुटज

कहते हैं, पर्वत शोभा-निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या! पूर्व और अपर समुद्र—महोदधि और रत्नाकर—दोनों को दो भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदंड' कहा जाय तो गलत क्या है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह जो शृंखला दूर तक लोटी हुई है, लोग इसे 'शिवालिक' शृंखला कहते हैं। शिवालिक का क्या अर्थ है? 'शिवालक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है? लगता तो ऐसा ही है। 'सपाद लक्ष' या सवा लाख की मालगुजारी वाला इलाका तो वह लगता नहीं। शिव की लटियाई जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनंदा का स्रोत यहाँ से काफी दूर पर है, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। सम्पूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्थ महादेव की मूर्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्थ महादेव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि-शृंखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े दिख अवश्य जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इज़हार करनेवाली रक्ताभ रेती! रस कहाँ है? ये जो ठिगने से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ़ जी ही नहीं रहे हैं, हंस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग

ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरे पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वंद्वातीत हैं, अलमस्त हैं। मैं किसी का नाम नहीं जानता, कुल नहीं जानता, शील नहीं जानता, पर लगता है, ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्हीं में एक छोटा-सा बहुत ही ठिगना पेड़ है। पत्ते चौड़े भी हैं बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब-सी अदा है, मुस्कुराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते ? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ। उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा हूँ। प्रायः भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ। नाम नहीं याद आता। पर नाम ही ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय, तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पंडितों का सैकड़ों बार का कचारा-निचोड़ा प्रश्न सामने आ गया—रूप मुख्य है या नाम ? नाम बड़ा है या रूप ? पद पहले है या पदार्थ ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ रहा है। मन व्याकुल हो गया, स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ, इसमें व्याकुल होने की क्या बात है ? नाम में क्या रखा है। नाम की जरूरत ही हो तो सौ दिये जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकांता, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा, बहुत से नाम हैं। या फिर पौरुष व्यंजक नाम भी दिये जा सकते हैं—अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद ! पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं, जिस पर समाज की मुहर

लगी होती है, आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्शन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा में स्नात !

इस गिरिकूट-विहारी का नाम क्या है ? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है—देश में और काल में 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' अचानक याद आया—अरे, यह तो कुटज है। संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित किन्तु कवियों द्वारा अवमानित यह छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कुटज ही हो, विरुद तो निस्संदेह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को कूटज कहने में विशेष आनन्द मिलता है। बहरहाल, यह कुटज—कूटज है, मनोहर कुसुम-स्तवकों से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित कुटज ! जी भर आया। कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे कुटज पुष्पों की अंजलि देकर ही सन्तोष करना पड़ा—चंपक नहीं, बकुल नहीं; नीलोत्पल नहीं, मल्लिका नहीं, अरविन्द नहीं,—फ़क़त कुटज के फूल ! यह और बात है कि आज आषाढ़ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फ़र्क़ भी कितना है। बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही कभी "शापेनास्तंगमित महिमा" (शाप से जिनकी महिमा अस्त हो गयी हो) होकर रामगिरि पहुँचे थे, अपने ही हाथों इस कुटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होंने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-श्रृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कुटज ने उनके संतप्त चित्त को सहारा दिया था—बड़भागी फूल है यह। धन्य हो कुटज 'तुम गाढ़े के साथी हो'। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-श्रृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों

का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ ? पर काहे वास्ते ? लेकिन बुरा भी क्या है ?

कुटज के ये सुन्दर फूल बहुत बुरे तो नहीं हैं। जो कालिदास के काम आया हो, उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज़्ज़त तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे, पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया ! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे भले क़द्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि ग़लती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेक़द्रदानी से मुरझा गये होंगे—ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुंझलाये थे, कह दिया—

वे रहीम अब बिरछ कहँ, जिनकर छाँह गँभीर।
बागन बिच-बिच देखियत, सेंहुड़, कुटज, करीर॥

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। छाँह ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नहीं ? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब हो जाया करता है, वे भी ग़लतबयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों में गिरिकूट-विहारी कुटज का क्या तुक है।

कुटज अर्थात जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं ? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से सम्बद्ध हैं। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है ? घर में काम-

काज करने वाली दासी 'कुटकारिका' और 'कुटहारिका' कही ही जा सकती है। एक जरा ग़लत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जाती है। संस्कृत में उसकी ग़लतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारद जी की तरह दासी के पुत्र थे क्या ? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं; पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना-देना।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है, वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गये। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जम के बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है ? बलिहारी है, इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींच कर सरस बना हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि-कांतार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है, कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है ! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ हैं, वहीं कहीं भगवान महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली जमीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनंदिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी, बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है—सूखी, नीरस, कठोर। यहीं आसन मार कर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित दोस्त कुटज। एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिला कर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तवक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक

बार नीचे की ओर अपनी पाताल-भेदी जड़ों को दबा कर गिरिनंदिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का स्रोत कहाँ है। जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेद कर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायु-मण्डल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़ कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरी में झूमकर, उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है—

भित्वा पाषाणपिठरं छित्वा प्राभञ्जनीं व्यथाम्।
पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः।

दुरंत जीवन-शक्ति है! कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं! तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवन रस के उपकरणों में, ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता। पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती—सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं—"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है सब मतलब के लिए। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है—है केवल प्रचंड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा—जीते रहने की प्रचंड इच्छा ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बड़ी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ हैं। इनके द्वारा कोई न कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अंतरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचंड कोई-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे "आत्मनः" का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की आत्मा केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सब में आप—इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती, तब तक पूर्ण सुख का आनन्द भी नहीं मिलता। अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता, तब तक 'स्वार्थ' खंड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय—कृपण—बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है—काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है—'चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिलकुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।'

सुखं वा यदि वा दुखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः।

(शान्तिपर्व २५/२६)

हृदयेनापराजितः! कितना विशाल वह हृदय होगा, जो सुख से,

दु:ख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि !

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है, वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरा उसका अपकार कर रहा है, वह भी बुद्धि-हीन है। मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाय, बहुत अच्छी बात है, नहीं मिल सका, कोई बात नहीं, परन्तु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि ग़लत है, तो दु:ख पहुँचाने का अभिमान तो नितरां ग़लत है।

दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है। दुखी वह है जिसका मन परवश में है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हुज़ूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है, वही दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडंबर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रह कर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। जनक की ही भाँति वह घोषणा करता है—मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ—

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता, मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो।

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

प्रश्न-अभ्यास

१. कुटज का परिचय निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर दीजिए :— आकार, पत्ते और फूल ।
२. किन कवियों ने कुटज की चर्चा की है और क्या कहा है ?
३. लेखक ने कुटज में किन महान् मानवीय गुणों का आभास पाया है ?
४. 'कुटज' के क्या-क्या नाम सुझाये गये हैं ? वे कहाँ तक सार्थक हैं ?
५. इस लेख में लेखक के व्यक्तित्व की झलक देने वाले स्थलों का संकेत कीजिए।
६. ललित निबन्ध के क्या गुण होते हैं ? इस निबन्ध से कुछ उदाहरण दीजिए।
७. कालिदास ने हिमालय को 'पृथ्वी का मानदण्ड' क्यों कहा है ?
८. शिवालिक किस स्थान का नाम है ? लेखक ने इसका क्या अर्थ समझाया है ? अन्य लोग इसका क्या अर्थ लगाते रहे हैं ?
९. कुटज को 'उजाड़ के साथी', 'गाढ़े के साथी' और 'मस्तमौला' कहने का क्या अभिप्राय है ?
१०. निम्नलिखित अवतरणों की संदर्भ सहित व्याख्या कीजिए :—
   (अ) 'पहचानता हूँ। उजाड़ के साथी,···अतीत के कोनों में झाँकता रहा।'
   (आ) 'नाम इसलिए बड़ा नहीं है···चित्त-गंगा में स्नात।'
   (इ) 'गोया कुटज अदना···क्या तुक है ?
   (ई) 'यह जो मेरे सामने···जम के बैठा सो बैठा ही है।
   (उ) 'दुरन्त जीवन-शक्ति है···मतलब के लिए ही तो जी रहा है।'
   (ऊ) 'भीतर की जिजीविषा···कोई शक्ति अवश्य है।'
   (ए) 'कुटज क्या केवल जी रहा है···बगलें नहीं झाँकता।'
   (ऐ) 'जो समझता है···नितरां ग़लत।'
११. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर हजारी प्रसाद द्विवेदी की निबन्ध-शैली की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

—

रघुवीर सिंह (सन् १६०८)

महाराजकुमार रघुवीर सिंह का जन्म मध्य प्रदेश में सीतामऊ में सन् १६०८ में हुआ था। इनके पिता मालवा की सीतामऊ रियासत के महाराजा थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई और उच्च शिक्षा होलकर कालेज, इन्दौर में हुई। इन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

मालवा में युगान्तर नामक शोधग्रंथ पर इन्हें आगरा विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। मध्ययुग के इतिहास से इन्हें विशेष प्रेम है। इनकी डी० लिट्० की उपाधि भी इतिहास विषय में ही है। ये इतिहास के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ हिन्दी-गद्य के भी अच्छे लेखक हैं। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

इतिहास विषयक कृतियाँ—**१. पूर्व-मध्यकालीन भारत, २. मालवा में युगान्तर, ३. पूर्व आधुनिक राजस्थान।**

साहित्यिक कृतियाँ :—**४. शेष स्मृतियाँ, ५. सप्तदीप, ६. बिखरे फूल, ७. जीवन-कण।**

रघुवीर सिंह एक राजघराने के होते हुए भी साहित्य-सृजन के कण्टकाकीर्ण एवं साधना तथा तपस्या के मार्ग पर बड़ी सफलता से आगे बढ़े। इनकी रचनाएँ काफी प्रसिद्धि पा चुकी हैं। भाषा में खड़ीबोली का प्रांजल रूप विद्यमान है। शैली सजीव तथा ओजपूर्ण है। प्रवाहपूर्ण एवं मँजी हुई भाषा में न तो संस्कृत शब्दों का आग्रह है और न उर्दू तथा बोलचाल के शब्दों से परहेज। स्थान-स्थान पर उर्दू शब्दों का प्रयोग हुआ है। मध्ययुग का वर्णन करते हुए मध्ययुगीन राजाओं, बादशाहों एवं इमारतों की विशेषताओं को उजागर करते समय उर्दू शब्दों का आना स्वाभाविक ही था। फिर भी भाषा कहीं पर भी दुरूह एवं बोझिल नहीं हो पायी है। बीच-बीच में शब्दों की आलंकारिक योजना से गद्य में भी काव्य का आनन्द मिलता है। तत्सम शब्दों के प्रयोग में भी ये सिद्धहस्त हैं। इनकी भाषा तत्सम शब्द-प्रधान है।

रघुवीर सिंह के निबन्धों को भावात्मक शैली के निबन्धों की कोटि में रखा जाता है। निबन्धों में रोचकता, चित्रात्मकता, भावुकता तथा अलंकार-योजना इनकी शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उनके भावात्मक प्रबंधों की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।

शेष स्मृतियाँ रघुबीर सिंह की सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक है। भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें ऐतिहासिक आधार पर लिखित भावात्मक निबन्धों का संग्रह है। 'ताज', 'फतेहपुर सीकरी' एवं अन्य इमारतों पर प्रवाहपूर्ण एवं आलंकारिक शैली में निबन्धों की रचना करके इन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। 'अवशेष' निबन्ध उनकी इसी पुस्तक से लिया गया है।

प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने आगरा के अवशेषों का भावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। आगरे की इमारतें अपने शिल्प-सौन्दर्य के कारण विश्व भर में विख्यात हैं और इनकी ओर यात्री बरबस आकृष्ट हो जाते हैं। इन इमारतों का भावनाओं से भी सम्बन्ध है। ताज प्रेम का स्मारक है तो फतेहपुर सीकरी अकबर के अनेक सपनों का साकार मूर्ति। इस निबन्ध का एक-एक वाक्य हृदय को स्पर्श करता चलता है। इसमें आगरे की सभी प्रसिद्ध इमारतों के विषय में लेखक के उद्‌गार व्यक्त हुए हैं। ताज, सीकरी, किला, मोती मस्जिद, जहाँगीरी महल, शीश महल, एतमादुद्दौला, सिकन्दरा आदि का वर्णन करते समय महाराजकुमार की लेखनी में वही मादकता, वही चंचलता, वही स्फूर्ति है जो इनकी भावना में उस समय रही होगी जब ये उन पुराने खँडहरों पर खड़े रहे होंगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि **"ये हृदय के मर्मस्थल से निकले हैं और सहृदयों के शिरीष-कोमल अन्तस्तल में सीधे जाकर सुखपूर्वक आसन जमाएँगे।"**

———

अवशेष

महान् मुग़ल सम्राट् अकबर का प्यारा नगर—आगरा—आज मृतप्राय-सा हो रहा है। उसके ऊबड़-खाबड़ धूल भरे रास्तों और उन तंग गलियों में यह स्पष्ट देख पड़ता है कि किसी समय यह नगर भारत के उस विशाल समृद्धिपूर्ण साम्राज्य की राजधानी रहा था; किंतु ज्यों-ज्यों उसका तत्कालीन नाम "अकबराबाद" भूलता गया त्यों-त्यों उसकी वह समृद्धि भी विलीन होती गयी। इस नगरी के वृद्ध क्षीण हृदय जुमा मस्जिद में अब भी जीवन के कुछ चिह्न देख पड़ते हैं, किंतु इसका बहुत कुछ श्रेय मुस्लिम काल की उन मृतात्माओं को है, अपने अंचल में समेट कर भी विकराल मृत्यु जिनको मानव-समाज के स्मृति-संसार से सर्वदा के लिए निर्वासित नहीं कर सकी; काल के क्रूर हाथों उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया, सब कुछ लोप हो गया, किंतु स्मृतिलोक में आज भी उनका पूर्ण स्वरूप विद्यमान है।

मुग़ल साम्राज्य भंग हो गया किंतु फिर भी उन दिनों की स्मृतियाँ आगरा के वायुमंडल में रम रही हैं। ज़मीन से मीलों ऊँची हवा में आज भी ऐश्वर्य विलास की मादक सुगंध, भग्न-प्रेम या मृत आदर्शों पर बहाये गए आँसुओं की वाष्प, तथा उच्छ्वासों और उसासों से तप्त वायु फैला हुआ है। भग्न मानव-प्रेम की वह समाधि, मुग़ल साम्राज्य के आहत यौवन का वह स्मारक ताज, आज भी अपने आँसुओं तथा अपनी आहों से आगरा के वायुमंडल को वाष्पमय कर रहा है। आज भी उस चिरविरही प्रेमी के आँसुओं का सोता यमुना नदी में जाकर अदृश्य रूप से मिलता है। ताज में दफ़नाये गये मुग़ल सम्राट् के तड़पते

हुए युवा हृदय की धुकधुकाहट से यमुना के वक्ष-स्थल पर छोटी-छोटी तरंगें उठती हैं; और दूर-दूर तक उसके निश्वासों की मरमर ध्वनि आज भी सुन पड़ती है। कठोर भाग्य के संमुख सुकोमल मानव हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते बल खा जाती है, उस समाधि को छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा बह निकलता है।

आगरे का वह उन्नत क़िला, अपने गत यौवन पर इतरा-इतराकर रह जाता है। प्रातःकाल बाल सूर्य की आशामयी किरणें जब उस रक्तवर्ण क़िले पर गिरती हैं, तब वह चौंक उठता है। उस स्वर्ण प्रभात में वह भूल जाता है कि अब उसके उन गौरवपूर्ण दिनों का अंत हो गया है, और एक बार पुनः पूर्णतया कांतियुक्त हो जाता है। किंतु कुछ ही समय में उसका सुख-स्वप्न भंग हो जाता है, उसकी वह ज्योति और उसका वह सुखमय उल्लास, उदासी तथा निराशापूर्ण सुनसान वातावरण में परिणत हो जाते हैं। आशापूर्ण हर्ष से दमकते हुए उस उज्ज्वल रक्तवर्ण मुख पर पतन की स्मृति-छाया फैलने लगती है। और दिवस भर के उत्थान के बाद संध्या समय अपने पतन पर क्षुब्ध मरीचिमाली जब प्रतीची के पादप पुंज में अपना मुख छिपाने को दौड़ पड़ते हैं और बिदा होने से पूर्व अश्रु-पूर्ण नेत्रों से जब वे उस अमर करुण कहानी की ओर एक निराशापूर्ण दृष्टि डालते हैं तब तो वह पुराना क़िला रो पड़ता है, और अपने लाल लाल मुख पर, जहाँ आज भी सौंदर्यपूर्ण विगत यौवन की झलक देख पड़ती है अंधकार का काला घूँघट खींच लेता है।

वर्तमानकालीन दशा पर ज्यों ही आत्मविस्मृति का पट गिरता है, अंतःचक्षु खुल जाते हैं और पुनः पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं, उस पुराने रंगमंच पर पुनः उस विगत जीवन का नाटक देख पड़ता है। सुन्दर सुम्मन बुर्ज को एक बार फिर उस दिन की याद आ जाती है, जहाँ दुःख और करुणापूर्ण वातावरण में मृत्युशय्या पर पड़ा कैदी

शाहजहाँ ताज को देख देखकर उसासें भर रहा था, जहान-आरा अपने संमुख निराशापूर्ण निस्संग करुण जीवन के भीषण तम को आते देखकर रो रही थी, जब उनके एकमात्र साथी, श्वेत पत्थरों तक के पाषाण हृदय पिघल गये थे और जब वह रत्नखचित बुर्ज भी रोने लगा था, उसके आँसू ढुलक-ढुलककर ओस की बूँदों के रूप में इधर-उधर बिखर रहे थे।

और वह मोती मसजिद, लाल लाल क़िले का वह उज्ज्वल मोती ...आज वह भी खोखला हो गया। उसका ऊपरी आवरण, उसकी चमक-दमक वैसी ही है किंतु उसकी वह आभा अब लुप्त हो गयी। उसका वह रिक्त भीतरी भाग धूल-धूसरित हो रहा है, और आज एकाध व्यक्ति के अतिरिक्त उस मसजिद में परमपिता का भी नामलेवा नहीं मिलता। प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम को चला जाता है, सारे दिन तपने के बाद संध्या हो जाती है, सिहर-सिहर कर वायु बहती है, किंतु ये शोयत प्रस्तर खंड सुनसान अकेले ही खड़े अपने दिन गिना करते हैं। उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आने वाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बंधन में पड़कर खिंची चली आयी है। प्रार्थना के समय "मुअज्जिन" की आवाज सुनकर यही प्रतीत होता है कि शताब्दियों पहिले गूंजने वाली हलचल, चहल-पहल तथा शोरगुल की प्रतिध्वनि आज भी उस सुन्दर परित्यक्त मसजिद में गूंज रही है।

उस लाल-लाल क़िले में मोती मसजिद, खास महल आदि श्वेत भव्य भवनों को देखकर यही प्रतीत होता है कि अपने प्रेमी की, अपने संरक्षक की मृत्यु से उदासीन होकर इस क़िले को वैराग्य हो गया, अपने अरुण शरीर पर शोयत भस्म रमा ली। उस महान् क़िले का यह वैराग्य, उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता ऐश्वर्य विलास से भरपूर सोते में यह उदासी, और उन रंग-बिरंगे, चित्रित तथा सजेसजाये महलों का यह नग्न स्वरूप,—साधारण दर्शकों तक के हृदयों को हिला देता है, तब क्यों न वह क़िला संन्यास ले ले ! संन्यास, संन्यास

—तभी तो चिरसहचरी यमुना को भी इसने लात लगाकर दूर हटा दिया, ठुकराकर अपने से अलग किया, और अपने सारे बाह्य द्वार बंद कर लिये। अब तो इनी-गिनी बार ही उसके नेत्र-पटल खुलते हैं, संसार को दो नजर देखकर पुनः समाधिस्थ हो जाता है वह क़िला। उस दुःखी दिल को सताना, उस निर्जन स्थान को फिर मनुष्य की याद दिलाना···· भाई! सम्हल कर जाना वहाँ; वहाँ के वे क्षुधित पाषाण, वह प्यासी भूमि····न जाने कितनी आत्माओं को निगलकर, न जाने कितनों के यौवन को कुचल कर, एवं न जाने कितनों के दिलों को छिन्न-भिन्न करके उनके जीवन-रस को पीकर भी तृप्त नहीं हुई; आज भी वह आपके आँसुओं को पीने के लिए, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो आपकी सुखद घड़ियों को भी विनष्ट करने को उतारू है।

उस किले का वह लाल-लाल जहाँगीरी महल—सुरा, सुन्दरी और संगीत के उस अनन्य उपासक की वह विलास भूमि—आज भी वह यौवन की लाली से रँगा हुआ है। प्रतिदिन अंधकारपूर्ण रात्रि में जब भूतकाल की यवनिका उठ जाती है, तब पुनः उन दिनों का नाट्य होता देख पड़ता है जब अनेकों की वासनाएँ अतृप्त रह जाती थीं, कइयों की जीवन घड़ियाँ निराशा के ही अन्धकारमय वातावरण में बीत जाती थीं, और जब प्रेम के उस बालुकामय शांति-जल-विहीन ऊसर में पड़े-पड़े अनेकों उसकी गरमी के मारे तड़पते थे। उस सुनसान परित्यक्त महल में रात्रि के समय सुन पड़ती हैं उल्लासपूर्ण हास्य तथा विषादमय करुण क्रंदन की प्रतिध्वनियाँ। वे अशांत आत्माएँ आज भी उन वैभवविहीन खंडहरों में घूमती हैं और सारी रात रो-रो कर अपने अपार्थिव अश्रुओं से उन पत्थरों को लथपथ कर देती हैं। किंतु जब धीरे-धीरे पूर्व में अरुण की लाली देख पड़ती है, आसमान पर स्वच्छ नीला-नीला परदा पड़ने लगता है, तब पुनः इन महलों में वही सन्नाटा छा जाता है, और निस्तब्धता का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। उन मृतात्माओं की यदि कोई स्मृति शेष रह जाती है तो उनके वे बिखरे

हुए अश्रु-कण, किंतु क्रूर काल उन्हें भी सुखा देना चाहता है। यहाँ की शांति यदि कभी भंग होती है तो केवल दर्शकों की पद-ध्वनि से तथा "गाइडों" की टूटी-फूटी अंग्रेजी शब्दावली द्वारा। रात और दिन में कितना अंतर होता है! विस्मृति के पट के इधर और उधर....एक ही पट की दूरी, वास्तविकता और स्वप्न, भूत और वर्तमान....कुछ ही क्षणों की देरी और हजारों वर्षों का सा भेद....कुछ भी समझ नहीं पड़ता कि यह है क्या।

उस मृतप्राय क़िले के अब केवल कंकालावशेष रह गये हैं; उसका हृदय भी बाहर निकल पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता है। नक्षत्र-खचित आकाश के चँदवे के नीचे पड़ा है वह काले पत्थर का टूटा हुआ सिंहासन, जिस पर किसी समय गुदगुदे मखमल का आवरण छाया हुआ होगा; और जिस पत्थर तक को सुशोभित करने के लिए, जिसे सुसज्जित बनाने के वास्ते अनेकानेक प्रयत्न किये जाते थे, आज उसी की यह दशा है। वह पत्थर है, किंतु उसमें भी भावुकता थी; वह काला है किंतु फिर भी उसमें प्रेम का शुद्ध स्वच्छ सोता बहता था। अपने निर्माता के वंशजों का पूर्ण पतन तथा उनके स्थान पर छोटे-छोटे नगण्य शासकों को सिर उठाते देखकर जब इस क़िले ने वैराग्य ले लिया, अपने यौवन-पूर्ण रक्तमय गात्रों पर भगवाँ डाल लिया, शोयत भस्म रमा ली, तो उसका वह छोटा हृदय भी क्षुब्ध होकर तड़प उठा, अपने आवरणों में से बाहर निकल पड़ा, वह बेचारा भी रो दिया। वह पत्थर हृदय भी अंत में विदीर्ण हो गया और उसमें से भी रक्त की दो बूँदें टपक पड़ीं। मुग़लों के पतन को देखकर पत्थरों तक का दिल टूट गया, उन्होंने भी रुधिर के आँसू बहाये....'परंतु वे मुग़ल, उन महान् सम्राटों के वे निकम्मे वंशज, ऐश्वर्य विलास में पड़े सुख नींद सो रहे थे....उनकी वही नींद चिरनिद्रा में परिणत हो गयी।'

और वह शीशमहल, मानव कांचन-हृदय के टुकड़ों से सुशोभित वह स्थान कितना सुन्दर, दीप्तिमान, भीषण तथा साथ ही कितना

रहस्यमय भी है! यौवन, ऐश्वर्य तथा राजमद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिए मानव हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिए, अपना दिल बहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों के हृदय चकनाचूर कर डाले। भोले-भाले हृदयों के उन स्फटिक टुकड़ों से उन्होंने अपने विलास भवन को सजाया। एक बार तो वह जगमगा उठा। टूटकर भी हृदय अपनी सुन्दरता नहीं खोते, उसके विपरीत रक्त से सने हुए वे टुकड़े अधिकाधिक आभापूर्ण देख पड़ते हैं। परंतु जब साम्राज्य के यौवन की रक्तिम ज्योति विलीन हो गयी, जब उस चमकते हुए रक्त की लाली भी कालिमा में परिणत होने लगी, तब तो मानव जीवन पर कालिमामयी यवनिका डालनेवाली उस कराल मृत्यु का भयंकर तमसावृत्त पटल उस स्थान पर गिर पड़ा; उस शीशमहल में अंधकार ही अंधकार छा गया।

मानव हृदय एक भयंकर पहेली है। दूसरों के लिए एक बंद पुर्जा है; उसके भेद, उसके भावों को जानना एक असंभव बात है। और उन हृदयों की उन गुप्त गहरी दरारों का अंधकार····एक हृदय के अंधकार को भी दूर करना कितना कठिन हो जाता है, और विशेषतया उन दरारों को प्रकाशपूर्ण बनाना····और यहाँ तो अनेकों मानव हृदय थे, सैकड़ों हजारों—और उन हृदयों के टुकड़े, वे सिकुड़े हुए रक्त से सने खंड····उन्होंने अपनी दरारों में संचित अंधकार को उस शीशमहल में उंड़ेल दिया। मुग़लों ने शीशमहल की सृष्टि की, और सोचा कि प्रत्येक मानव हृदय में उन्हीं का प्रतिबिम्ब दिखायी देगा····परंतु यह कालिमा और मानव हृदय की वे अनबूझ पहेलियाँ····। मुग़लों ने उमड़ते हुए यौवन में प्रेम के प्रवाह में एक चमक देखी और उसी से संतुष्ट हो गये। दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिए तथा उस अंधकार को क्षण भर के लिए मिटाने के हेतु गंधक जलाकर आज भी ज्योति की जाती है। मुग़लों के समान दर्शक भी उन काँच के टुकड़ों में एक बार अपना प्रतिबिम्ब देखकर समझते हैं कि उन्होंने संपूर्ण दृश्य देख लिया।
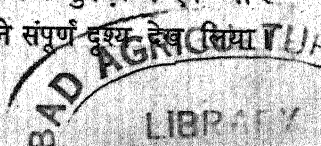
परंतु उस अंधकार को कौन मिटा सकता है ? कौन मानव हृदय के तल को पहुँच पाया है ? किसे उन छोटे-छोटे दिलों का रहस्य जान पड़ा है ? कौन उन टूटे हुए हृदयों की संपूर्ण व्यथा को उनकी कसक को समझ सका है ?.....यह अंधकार तो निरंतर बढ़ता ही जाता है।

सुन्दरता में ताज का प्रतियोगी, ऐतमादुद्दौला का मकबरा, भाग्य की चंचलता का मूर्तिमान स्वरूप है। राह-राह भटकने वाले भिखारी का मकबरा, भूखों मरते तथा भाग्य की मार से पीड़ित रंक की कब्र ऐसी होगी, यह कौन जानता था ? यह श्वेत समाधि भाग्य के कठोर थपेड़े खाये हुए व्यक्ति के सुखांत जीवन की कहानी है। श्वेत पत्थर के इस मक़बरे के स्वरूप में सौभाग्य घनीभूत हो गया है। यौवन-मद से उन्मत्त साम्राज्य में नूरजहाँ के उत्थान के साथ ही वासनाओं के भावी अंधड़ के आगम की सूचना देने वाली तथा उस अंधड़ में भी साम्राज्य के पथ को प्रदीप्त करने वाली यह ज्योति मुग़ल स्थापत्य कला की एक अद्‌भुत वस्तु है।

और उस मृतप्राय नगरी से कोई पाँच मील दूर स्थित है वह अस्थि-विहीन पंजर। अपनी प्रियतमा नगरी की भविष्य में होनेवाली दुर्दशा की आशंका तक से अभिभूत होकर ही अकबर ने अपना अंतिम निवासस्थान उस नगरी से कोसों दूर बनाने का आयोजन किया था। अकबर का सुकोमल हृदय मिट्टी में मिलकर भी अपनी कृतियों की दुर्दशा नहीं देख सकता था, और न देखना ही चाहता था। उस शांत वातावरणपूर्ण सुरम्य उद्यान में स्थित यह सुन्दर समाधि अपने ढंग की एक ही है। अकबर के व्यक्तित्व के समान ही समाधि दूर से एक साधारण सी वस्तु जान पड़ती है, किंतु ज्यों-ज्यों उसके पास जाते हैं, उस समाधि भवन में पदार्पण करते हैं, त्यो-त्यों उसकी महत्ता, विशालता एवं विशेषताएँ अधिकाधिक दिखायी पड़ती हैं। उस महान् अव्यावहारिक धर्म 'दीन-ए-इलाही' के इस एकमात्र स्मारक को निर्माण करने में अकबर ने अनेकानेक वास्तुकलाओं के आदर्शों का अनोखा संमिश्रण किया था।

ध्रुव की ओर सिर किये अकबर अपनी कब्र में लेटा था। एक ध्रुव को लेकर ही उसने अपने समस्त जीवन तथा सारी नीति की स्थापना की थी, और उसके उस महान् आदर्श ने, विश्वबंधुत्व के उस टिमटिमाते हुए ध्रुव ने मृत अकबर को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अकबर का वह छोटा-सा शव उस विशाल समाधि में भी नहीं समा सका, वह वहाँ शांति से नहीं रह सका। विश्व-प्रेम तथा मानव-भ्रातृत्व के प्रचारक के अंतिम अवशेष, वे मुट्ठी भर हड्डियाँ भी विश्व में मिल जाना चाहती थीं। विशाल हृदय अकबर मर कर भी कठोर पत्थरों की उस विशाल, किंतु आत्मा की दृष्टि से बहुत ही संकुचित, परिधि में नहीं समा सका। अपने अप्राप्त आदर्शों की ही अग्नि में जलकर उसकी अस्थियाँ भी भस्मसात् हो गयीं, और वह भस्म वायुमंडल में व्याप्त होकर विश्व के कोने-कोने में समा गयी। अकबर की हड्डियाँ भस्मीभूत हो गयीं, परंतु अपने आदर्शों को न प्राप्त कर सकने के कारण उस महान् सम्राट् की वह प्रदीप्त हृदय ज्वाला आज भी बुझी नहीं है; उस मिट्टी के दीपक-रूपी हृदय में अगाध मानव स्नेह भरा है, उसमें सदिच्छाओं तथा शुभ भावनाओं की शुद्ध श्वेत बत्ती पड़ी है, और वह दिया तिल तिल कर जलता है। वह टिमटिमाती हुई लौ आज भी अकबर की समाधि पर जल रही है, और धार्मिक संकीर्णता के अंधकार से पूर्ण, विश्व के सदृश गोल तथा विशाल गुम्बज में वह उस महान् आदर्श की ओर इंगित करती है, जिसको प्राप्त करने के लिए शताब्दियों पहिले अकबर ने प्रयत्न किया था, और जिसे आज भी भारतीय राष्ट्र नहीं प्राप्त कर सका है।

मानव जीवन एक पहेली है, और उससे भी अधिक अनबूझ वस्तु है विधि का विधान। मनुष्य जीवन के साथ खेलता है, जीवन ही उसके लिए मनोरंजन की एकमात्र वस्तु है, और वही जीवन इस लोक में फैलकर संसारव्यापी हो जाता है। संसार उस बिखरे हुए जीवन को देखकर हँस देता है या ठुकरा देता है। परन्तु जीवन बीत चुकने पर जब

मनुष्य उसे समेटकर इस लोक से विदा लेता है तब संसार उस विगत आत्मा के संसर्ग में आयी हुई वस्तुओं पर प्रहार कर या उन्हें चूमकर समझ लेता है कि वह उस अन्तर्हित आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट कर रहा है। उस मृत व्यक्ति के पाप या पुण्य का भार उठाते हैं उसके जीवन से संबद्ध ईंट और पत्थर, उसकी स्मृतियों के अवशेष। किसका कृत्य और किसे यह दंड····परंतु यही संसार का नियम है, विधि का ऐसा ही विधान है।

बिखरे पड़े हैं मुग़ल सम्राटों के जीवन के भग्नावशेष, उस मृत-प्राय नगरी में। जिन्होंने उस नगरी का निर्माण किया था उनका अन्त हो गया, उनका नामलेवा भी न रहा। सब कुछ विनष्ट हो गया; वह गौरव, वह ऐश्वर्य, वह समृद्धि, वह सत्ता—सब विलीन हो गये। मुग़ल साम्राज्य के उन महान् मुग़ल सम्राटों की स्मृतियाँ, उन स्मृतियों के वे रहे-सहे अवशेष, यत्र-तत्र बिखरे हुए वैभवविहीन वे खंडहर, उन सम्राटों के विलास स्थान, ऐश्वर्य के वे आगार, उनके मनोभावों के वे स्मारक····सब शताब्दियों से धूल धूसरित हो रहे हैं, पानी-पत्थर, सरदी-गरमी की मार सह रहे हैं। उन्हें निर्माण करने में उनके निर्माताओं के लिए विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रियों एवं पीड़ितों के हृदयों को कुचलकर जो-जो अत्याचार किये थे, उन्हीं सबका प्रायश्चित आगरे के ये भग्नावशेष कर रहे हैं। कब जाकर यह प्रायश्चित सम्पूर्ण होगा, यह कौन जानता है कि कुछ बता सके।

—रघुवीर सिंह

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने आगरा को मृतप्राय-सा क्यों कहा है ?
२. लेखक ने भग्न मानव-प्रेम की समाधि किसे कहा है ? इसे मुग़ल साम्राज्य के आहत यौवन का स्मारक कैसे कहा जा सकता है ?
३. अपने गत यौवन पर कौन इतरा रहा है ? क़िला रो क्यों प ़ता है ?

४. शाहजहाँ कहाँ कैद था ? वह ताज को देख-देख कर उसासें क्यों भर रहा था ?

५. मोती मसजिद का ऊपरी चमक-दमक वैसा ही रहता हुए भी आभाविहीन क्यों हो गया ?

६. जहाँगीरी महल को देखकर लेखक के मन में किस प्रकार के भाव उमड़ पड़े ?

७. शीश महल का वणन लेखक ने किस प्रकार किया है ?

८. मानव हृदय को पहेली क्यों कहा गया है ?

९. सुन्दरता में ताज की प्रतिद्वन्द्वी इमारत कौन-सी है ?

१०. अकबर ने अपना अन्तिम निवास-स्थान कहाँ बनवाया था ? इसका वर्णन लेखक ने किस प्रकार किया है ?

११. अधोलिखित वाक्य का आशय व्यक्त कीजिए :—

'कठोर भाग्य के सम्मुख सुकोमल मानव हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते बल खा जाती है, उस समाधि का छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा बह निकलता है ।'

१२. निम्नलिखित वाक्यों अथवा वाक्यांशों में निहित सौन्दर्य को स्पष्ट कीजिए :

(क) 'टूटकर भी हृदय अपनी सुन्दरता नहीं खोते ।'

(ख) 'श्वेत पत्थर के इस मकबरे के स्वरूप में सौभाग्य घनीभूत हो गया है ।'

(ग) 'बिखरे पड़े हैं मुग़ल-सम्राटों के जीवन के भग्नावशेष, उस मृतप्राय नगरी में ।'

१३. इस पाठ में प्रयुक्त रूपकों के दो उदाहरण दीजिए ।

———

'अज्ञेय' (सन् १९११)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व सबसे अधिक चर्चा का विषय रहा है। जिस प्रकार उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही, उसी प्रकार उनका जीवन और व्यक्तित्व भी अनेकमुखी रहा। उनका उपनाम 'अज्ञेय' उचित ही है।

'अज्ञेय' का वास्तविक नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। इनके पिता पं० हीरानन्द शास्त्री भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता थे। ये लोग पंजाब प्रान्त के कर्त्तारपुर (जालन्धर) नगर के निवासी थे और मूलतः भणोत सारस्वत ब्राह्मण कुल के थे। पिता ने संकीर्ण जातिवाद से ऊपर उठकर गोत्र के नाम का प्रचलन कराया और ये भणोत से वात्स्यायन बने। 'अज्ञेय' का बचपन पिता के साथ वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषों के बीच बीता तथा परिवार के अन्य सदस्यों— माता एवं भाइयों से प्रायः अलग-थलग रहना पड़ा। यही कारण रहा कि 'अज्ञेय' एकान्त के सहज अभ्यासी हो गये, जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर आज भी देखा जा सकता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में— **अकेले रहने का आरम्भ से ही कुछ अधिक अभ्यास है। फलतः प्रायः लोगों के बीच में भी अकेला रह जाता हूँ, जिससे सब नाराज हैं और घनिष्ठ मित्र कोई अपने को नहीं समझता। सभा-समाजों में सिट्टी भूल जाता हूँ, जिसे कृपालु लोग गम्भीरता समझते हैं और शेष लोग अहंकार।** ('तार सप्तक' पृष्ठ २६८)।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही संस्कृतज्ञ पिता के प्रभाव से संस्कृत से प्रारम्भ हुई—"वह भी पुराने ढंग से यानी अष्टाध्यायी रटकर।" तदुपरान्त फारसी सीखी एवं उसके पश्चात् अंग्रेजी। आगे की शिक्षा मद्रास और लाहौर में पायी। विज्ञान स्नातक (सन् १९२९) होने के बाद अंग्रेजी साहित्य से एम० ए० कर ही रहे थे कि उसके अन्तिम वर्ष में क्रान्तिकारी षडयंत्रों में भाग लेने के कारण गिरफ्तार कर लिये गये और सन् १९३०-३४ तक जेल में रहकर बाद में एक वर्ष घर पर नजरबन्दी में बिताना पड़ा। मेरठ 'किसान आन्दोलन' में भी इन्होंने भाग लिया। सन् १९४३-४६ में सेना में भरती होकर असम-बर्मा सीमान्त पर और युद्ध समाप्त हो जाने पर

पंजाब-पश्चिमोत्तर सीमान्त पर सैनिक के रूप में सेवा की। सन् १९५५ में ये यूनेस्को की वृत्ति पर योरप गये। सन् १९५७ में जापान और पूर्वेशिया का भ्रमण किया। ये भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्राध्यापक नियुक्त होकर कुछ समय तक अमेरिका में भी रहे। कुछ दिनों तक इन्होंने जोधपुर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य तथा भाषा अनुशीलन विभाग के निदेशक पद पर भी कार्य किया। आजकल दिल्ली से **नया प्रतीक** निकाल रहे हैं।

साहित्य के अतिरिक्त 'अज्ञेय' चित्र-कला, मृत्तिका-शिल्प, चर्म-शिल्प, बढ़ईगीरी, फोटोग्राफी, बागवानी एवं पर्वतारोहण आदि में भी सक्रिय रुचि लेते रहे हैं। "पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेंदुए के बच्चे तक पाले हैं। पक्षी बुलबुल से मोर चकोर तक"। वन-पर्वत, सागर-तट, बीहड़ प्रदेश, ग्राम-नगर एवं देश-विदेश में घूमने एवं भटकने का इन्हें शौक रहा है। "सागर में वह दो बार डूब चुका है, चट्टानों की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ में वह कई बार फिसल कर गिरा है और दैवात् ही बच गया है। हिमालय के उत्तुंग शिखरों को वह जिस ललचाई दृष्टि से देखता है, गहन सागर के गर्जन-तर्जन में भी उसे वही आनंद मिलता है।" 'अज्ञेय' का स्वभाव है, व्यवस्था-प्रियता। बचपन से ही यह व्यवस्था-प्रेमी रहे हैं। पैकिंग से लेकर कमरे की सजावट तक और कलम-नवीसी से लेकर शिकार तक इनके हाथ ऐसे मँजे हैं कि जरा भी अव्यवस्था इन्हें सहन नहीं है और कभी-कभी अत्यन्त निकट के लोगों के लिए भी इस व्यवस्था का उद्रेक झुंझलाहट की सामग्री बन जाता है।

'अज्ञेय' का रचना-क्षेत्र विस्तृत और विविध है। उन्होंने कहानी, उपन्यास निबन्ध, आलोचना और काव्य के अतिरिक्त एक नाटक भी लिखा है—**उत्तर प्रियदर्शी**। इनके निबन्ध संग्रह हैं—**१. त्रिशंकु** २. **आत्मनेपद** ३. **हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, ४. सब रंग और कुछ राग** एवं **५. लिखि कागद कोरे**। उनके यात्रा-विषयक निबन्ध हैं—**६. अरे यायावर रहेगा याद** तथा **७. एक बूँद सहसा उछली**।

विषय की दृष्टि से 'अज्ञेय' के निबन्धों को मोटे तौर पर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. आत्मपरक अथवा वैयक्तिक निबन्ध 'आत्मनेपद' तथा 'लिखि कागद कोरे।'

२. शास्त्रीय अथवा समीक्षात्मक निबन्ध 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य,' 'त्रिशंकु' तथा तीनों सप्तकों की भूमिकाएँ।

३. भ्रमण वृत्तान्त तथा अन्य निबन्ध—'अरे यायावर रहेगा याद' तथा 'एक बूंद सहसा उछली।'

भाषा-शिल्प की दृष्टि से 'अज्ञय' सदैव जीवन्त एवं संस्कारा भाषा के प्रयोग के हामी रहे हैं। उनका प्रयत्न सदैव शब्द को नयी अर्थवत्ता से भर देने का रहता है। शब्द प्रयोग में वे मितव्ययिता को बहुत महत्त्व देते हैं। उन्होंने भाषा-सम्बन्धी विविध प्रयोग किये हैं—संस्कृत-निष्ठ भाषा से लेकर आम बोलचाल की भाषा तक। उनकी तर्क-पद्धति सुव्यवस्थित, सुचिंतित एवं क्रम-संगत होती है। शैली के भी नये मान 'अज्ञेय' ने स्थापित किये हैं। संवाद—'केशव की कविताई', 'प्रश्नोत्तर', "हिन्दांग्लीयम्', 'लेखक के चारों ओर, टिप्पणी—'परम्परा, प्रभाव, प्रक्रिया' एवं इण्टरव्यू-'कुट्टिटजातविनोदेन' (१-२) आदि अनेक शैलियों का उन्होंने कलात्मक प्रयोग किया।

प्रस्तुत लेख लेखक के **सब रंग और कुछ राग** निबन्ध संकलन से लिया गया है। लेखक के अनुसार 'सन्नाटा' शब्द का ही एक गुण है। उसमें भी एक स्वर होता है, भले ही वह स्वर कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। वह नकार अथवा अनस्तित्व का विराट् रूप है किन्तु शून्य नहीं है। सूक्ष्म लक्षणों के द्वारा हम केवल उसका भावन (अनुभूति) करते हैं। उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं कर सकते। यह भावन भी स्थिति की विशेषता एवं व्यक्ति का विशेषता से प्रभावित होता है। इसी कारण ध्वन्यनुसारी शब्द होते हुए भी सन्नाटा स्थिति और व्यक्ति के अन्तर से सूं-सूं, सांय-सांय तथा भांय-भांय आदि अनेक स्वरों में सुनायी पड़ता है।

————
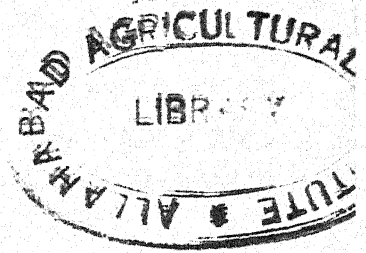
सन्नाटा

'कैसा सन्नाटा छाया है !' हम कहते हैं, और फिर अनायास ही कान लगाकर उसकी आवाज सुनने लगते हैं। 'वहाँ सन्नाटा साँय-साँय करता है—वह बड़ा डरावना मालूम होता है',—यह भी प्राय: सुनने में आता है।

असल में सन्नाटा आत्यन्तिक स्वहीनता नहीं है। वह शब्द का ही एक गुण है। कह लीजिए कि वह मौन का स्वर है, निस्तब्धता की गति है।

इसमें कोई मौलिक विरोध नहीं है, क्योंकि स्वर के क्षेत्र में जैसे सन्नाटा है, वैसे ही और इन्द्रियगोचर क्षेत्रों में भी लक्ष्य होता है। स्वाद ले लीजिए—हम कहते हैं फीका—उस चीज के लिए जिसमें कोई स्वाद नहीं होता। लेकिन क्या फीका वास्तव में स्वादहीन है? अच्छा स्वच्छ पानी स्वादविहीन होता है—पर उसे हम कभी फीका नहीं कहते। पानी को अगर कभी फीका कहते हैं तो तभी जब उसमें एक विशेष प्रकार का स्वाद होता है—और वह फीकेपन का स्वाद है, ठीक उसी तरह जिस तरह सन्नाटे की आवाज होती है !

हम कहते हैं अंधेरा। अंधेरा प्रकाश की एकान्त अनुपस्थिति है, और रंग क्योंकि प्रकाश का गुण है, इसलिए अँधेरे का कोई भी रंग नहीं हो सकता। लेकिन हम कहते हैं काला अंधेरा—खैर, मान लें कि काला भी रंग नहीं है, रंग की अनुपस्थिति है, तो हम जानते हैं कि अंधेरा नीला भी होता है, और भूरा भी होता है, और एक अवर्णनीय रंग का धुंधला अंधेरा भी होता है। 'आँखों के आगे अंधेरा छा जाता

है'—पर उस समय हमें तारे दीखते हैं, या लाल-पीला या हरा रंग दीखता है, यह मैं निजी अनुभव से कहता हूँ। (अनुभव आपका भी होगा अगर आपकी आँखों के सामने कभी अंधेरा छाया हो; पर आपने शायद लक्ष्य न भी किया हो, मुझ निठल्ले को तो ऐसी खुराफ़ात सूझती रहती है!)

भाषा बुद्धि का एक उपकरण है। सम्यक् निरूपण या वर्णन का वह माध्यम है। तब क्यों ऐसा प्रमाद? लेकिन वास्तव में यह भाषा का दुरुपयोग नहीं है। असल में मानव बुद्धिजीवी या तर्कजीवी होकर भी—या होने के कारण ही!—सम्पूर्ण नकार से डरता है। किसी एकान्त, आत्यन्तिक नकार का न कभी वह दावा करता है, न उसे पाना चाहता है, बल्कि कहना चाहिए उससे कन्नी काटता है। सम्पूर्ण नकार कुछ है तो कुछ बहुत बड़ा है, कुछ विराट् है। नकार का अपना एक ऐश्वर्य है, जिसे मानव की कल्पना समा नहीं सकती। क्या इसीलिए नहीं कि ईश्वर के सब विशेषण नकारात्मक हैं अनादि, अनन्त, अगम, अगाध, अरूप, असीम, अप्रमेय। धर्मात्मा लोग समझाने लगते हैं तो कहते हैं कि जब ऋषि लोग परमात्मा का बखान करते-करते हार गये तब लाचर उन्होंने कहा, 'नेति-नेति!'—यह नहीं, यह नहीं। पर वास्तव में यह परिभाषा की पराजय नहीं है, यह तो स्वयं संपूर्ण परिभाषा है; जो कुछ है, वह है इसीलिए स्वीकारमूलक है, एक सम्पूर्ण नकार ही हमारी कल्पना से परे है, अनिर्वचनीय और अकल्पनीय है, और वही तो परमात्मा है!

सन्नाटा! यह नाम ही उस 'सन्-सन्' ध्वनि से बना है जो हम सन्नाटे में सुनते हैं। यह वैचित्र्य है कि कहीं उसे 'सूँ-सूँ' सुनते हैं, जैसे पंजाब में, कहीं 'साँय-साँय', जैसे अधिकांश भारत में, कहीं 'हाउँ-हाऊँ', जैसे शायद बंगाल में। यों उत्तर प्रदेश में ऐसे भी हैं जो इसे 'भाँय-भाँय' सुनते हैं; लेखक लोग भी। सन्नाटे के स्वर को कोई 'भाँय-भाँय' कैसे सुन सकता है, मेरी समझ में नहीं आता, खासकर साहित्य-

स्रष्टा; पर हिन्दी के लेखक सुनते हैं, और हिन्दी राष्ट्रभाषा है तो उसके लेखकों के बारे में गुस्ताखी की बात कैसे कही जाय! इसलिए मैं सोचता हूँ कि 'भाँय-भाँय' असल में 'भय' और 'साँय-साँय' की सन्धि से बनाया गया होगा—भयावने सन्नाटे के लिए। किसी भावना को दो शब्दों से खींचकर एक ही शब्द में घनीभूत सार रूप से संचित करने का यह टेकनिक यूरोपीय लेखकों ने भी अपनाया है, यथा जेम्सजॉएस ने; और यह कैसे हो सकता है कि यूरोपीय साहित्य में कोई प्रयोग हो और हिन्दी में न हो बल्कि उससे पहले!

यों यह हो सकता है कि अलग-अलग प्रदेश के सन्नाटे में भी थोड़ा अन्तर हो। पर असल में उसका शब्द सुनने में शायद हमारे कानों का अन्तर ही प्रधान होता है। शब्द-निर्माण में ध्वनि का अनुसरण एक मुख्य स्थान रखता है। ध्वन्यनुसारी शब्द प्रत्येक भाषा में भरे पड़े हैं—ठाँय, धड़ाम, छलछलाना, रुनझुनाना, चिचियाना, चहकना, सनसनाहट, गड़गड़ाहट। लेकिन कौतुक यह है कि एक ही ध्वनि को विभिन्न देशों में कितने प्रकार से सुना जाता है। गोली की आवाज लीजिए: हम सुनते हैं 'ठाँय', लेकिन अंग्रेजी में वह हो जाता है 'बग' या 'क्रैक'। तोप हमारे यहाँ कहती 'धाँय'। पर जब अंग्रेजी बोलती है तो कहती है 'बूम'। इसी प्रकार 'रुनझुन' के लिए 'टिंकल', 'गड़गड़ाहट' के लिए 'रम्बल', पानी की कल-कल ध्वनि के लिए 'रसल'—और भी बहुत से गिना दिये जा सकते हैं। कभी-कभी तो इन भेदों को देखकर एक पुराना पंजाबी जन-गीत याद आ जाता है—'राजा पटियाले वाला बोली होर बोलदा'—पटियाले वाला राजा और ही बोली बोलता है, पानी को वाटर कहता है, बेटी को डाटर कहता है....

लेकिन ध्वन्यनुसारी शब्दों में केवल भेद ही हो, ऐसा नहीं है। कहीं आश्चर्य-जनक साम्य भी है। हमारे यहाँ मोटर घर्र-घर्र करती है, वहाँ उसके लिए 'हर्र' शब्द है; बहुत हल्का हो तो 'पर्र' कहते हैं—यही शब्द बिल्ली के गुरगुराने के लिए भी है। मोटर साइकिल 'फट-

फटिया' है, इसका हमवजन नाम । अंग्रेजी में नहीं है, लेकिन इंजन का 'पटरिंग' वे भी सुनते हैं। और अंग्रेजी के महाप्राण उच्चारण में 'पटर' विस्फोटित होकर 'फटर' हो ही जाता है । कवि-प्रिय 'मर्मर' ध्वनि अंग्रेजी में भी 'मर्मर' ही है ।

ये साम्य और वैषम्य तुलनात्मक अध्ययन का बड़ा अच्छा विषय हो सकते हैं। यह भी पाया जा सकता है कि विशेष काल में कोई विशेष ध्वन्यनुसारी चला हो, या उसका कारण बाह्य स्थिति की कोई विशेषता हो। जैसे गिरना ले लीजिए। हमारे यहाँ ही 'धम्म' या 'धड़ाम' से भी गिरते हैं, खट् से भी। अंग्रेजी में 'क्रैश' करते हैं, या 'थड' होता है। हो सकता है कि कच्चे फर्श पर गिरने से एक चला हो, पक्के फ़र्श से या लकड़ी के फ़र्श से एक । अब जहाँ अधिकतर लकड़ी के फ़र्श होते हैं या थे—वहाँ गिरने का ध्वन्यनुसारी एक शब्द हो जायेगा, जहाँ कच्चे फ़र्श होते हों वहाँ दूसरा । फिर जब शब्द रूढ़ हो जाते हैं तो उनकी ध्वन्यनुसारी व्युत्पत्ति लोग भूल जाते हैं; लकड़ी के फर्श जब नहीं रहेंगे तब भी उस पर गिरने के लिए जो शब्द रूढ़ हो गया है वह गिरने के लिए चलता ही रहेगा।

स्थिति-वैचित्र्य तो पूरे समाज को प्रभावित करता है। पर व्यक्ति-वैचित्र्य का भी असर हो सकता है । अब पानी की कल-कल ध्वनि वाल्मीकि से कालिदास और कालिदास से प्रगति-पूर्व तक के कवि सुनते आये—प्रगतिवादियों को वह न सुन पड़ी क्योंकि प्रकृति की आवाजें रूमानी आवाजें थीं जिनके प्रति उन्होंने कान बन्द कर लिये, बन्द कारखाने को मानवी क्रियाओं का श्रेष्ठ प्रतीक मानकर उन्होंने अपने को किस आश्चर्यजनक रूप से इन्द्रिय-गोचर संवेदनाओं के प्रति बन्द कर लिया, यह सहसा विश्वास नहीं होता। जो इन्द्रिय-संवेदना के प्रति बन्द है उसकी मानसिक संवेदना भी अधिक नहीं टिक सकती, क्योंकि इन्द्रियाँ ही मन की ग्राहकता के उपकरण हैं; यह सीधी-सी बात वे भूल गये। लेकिन हम उनकी आलोचना करने नहीं बैठे, हम

कल-कल ध्वनि की बात कर रहे थे। सहसा छायावादी पन्त ने सुना, कलकल ही नहीं, 'कल्-कल् : टल्-मल-'। आज-कल ऋषि नहीं होते, अत: आर्ष प्रयोग की दुहाई तो नहीं दी जा सकती; पर कवि द्रष्टा है तो श्रोता भी है; महाकवि के अनुयायी होकर हम पानी के स्वर के लिए टलमलाना कहने लगें तो वह ध्वन्यनुसारी होगा या नहीं यद्यपि हमने वैसा नहां सुना ?

लेकिन वास्तव में हम सन्नाटे को जानते नहीं हैं। नहीं जानते, क्योंकि वास्तव में वह है नकार ही, और नकार को हम तद्वत् ग्रहण नहीं कर सकते। केवल कुछ लक्षणों के सहारे उसका भावन कर सकते हैं। और कौतुक यही है कि ये लक्षण कोई नकारात्मक नहीं होते, केवल सूक्ष्म होते हैं। पहाड़ के आगे जैसे राई है, इसी अनुपात में राई के आगे कुछ होगा, उस कुछ को हम कुछ नहीं कहते हैं, पर वास्तव में वह कुछ नहीं तो नहीं है ? अस्तित्व के विराट् से अनस्तित्व के विराट् तक जाने के लिए सूक्ष्म अस्तित्व के ऐसे छोटे-छोटे सेतु हम बनाते हैं; पर जिस तरह एक विराट् अपर्याप्त लक्षणों के द्वारा ही भावित होता है, उसी प्रकार दूसरा विराट् भी। इसे चाहे मानव की लघुता मान लीजिए कि वह विराट् को मुट्ठी में नहीं करता, केवल भावना करता है, चाहे उसकी महत्ता मान लीजिए कि वह लघु होते भी विराट् का भावन करता है, उसकी ओर उठता है, उसे पाना चाहता है।

तो सन्नाटे को हम अपने-आप में नहीं जानते। छोटे-छोटे स्वरों के सहारे ही जानते हैं। और स्वरों को सुनने में भी बहुधा अपनी इच्छाओं का, विचारों का आरोप उन पर करते हैं। हम कहते हैं, 'प्रभात का सुहावना शान्त समय'—तो क्या अपनी शान्ति-लिप्सा दृश्य पर आरोपित नहीं कर रहे ! प्रभात में इतने प्रकार के स्वर होते हैं कि सूची बनाने लगें ता चकित हो जायेंगे। विशेषकर हमारे देश में, जितने प्रकार के पक्षी सबेरे बोलते हैं उनकी सूची ही यथेष्ट होती है। यहाँ सन्नाटे के आस-पास की कुछ शान्ति होती है तो ग्रीष्म की दोपहरी में

और उस वक्त हमारी इन्द्रियाँ भी इतनी शिथिल होती हैं कि कदाचित् सन्नाटे की साँय-साँय भी न सुनें या सुनकर भी अनसुनी कर दें। पर फिर भी मैं जब उस सन्नाटे की कल्पना करके थोड़ी देर के लिए अपने को उसे सौंप देना चाहता हूँ, तब अनिवार्यतः पाता हूँ कि उसमें एक स्वर और है मक्खी की अलसायी-सी भिनभिनाहट या किवाड़ बन्द करके, खस की टट्टियाँ लगाकर इतना अँधेरा कर लूँ कि वह भी न रहे, तो उससे भी सूक्ष्म एक स्वर मच्छर की पिनपिनाहट सर्वथा स्वरमुक्त सन्नाटा कभी पाया हो, याद नहीं आता : हाँ, पानी के तले डुबकी लगाकर कभी उसके कुछ निकट पहुँचा हूँ, लेकिन वहाँ इतनी देर टिक नहीं सका कि ठीक पड़ताल कर सकूँ, और फिर साँस रोकने से कानों में अपने ही हृदय की धड़कन भीतर से ऐसी गूँज गयी है कि जैसे सागर का शोर।

और शायद सन्नाटे की साँय-साँय है भी यह अपने ही भीतर का शोर····अपने ही आकुल अनवरत रक्त-प्रवाह की गूँज। सीपी में हम जब सागर का शब्द सुनते हैं, तब अपने ही रक्त का मर्मर (टलमलाना?) सुनते हैं। और शायद इसीलिए कोई साँय-साँय को भाँय-भाँय भी सुन सका हो, रक्त के अतिरिक्त दबाव से जिसकी धमनियाँ अपना लचकीलापन खोकर पथरा गयी हों (डाक्टर कहते हैं कि उनमें चूने का अस्तर लग जाता है) उसे उनमें रक्त का प्रवाह वैसा ही सुन पड़ सकता है जैसा धातु के पाइप में से दौड़ता हुआ द्रव, न कि पेड़-पत्तियों में से सनसनाती हुई मुक्त हवा।

लेकिन साँय-साँय और भाँय-भाँय ये जो भेद हैं, उसे लेकर झाँय-झाँय करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे सूक्ष्म भेद होते हा हैं, और जीवन-वैचित्र्य के सहायक हैं। भौंरे की गुनगुनाहट, मक्खी की भिनभिनाहट, मच्छर की पिनपिनाहट एक ही ध्वनि के मन्द, मध्य और तार रूप के लिए देखिए कितना सूक्ष्म, कितना स्पष्ट भेद रखने वाले ध्वन्यनुसारी शब्द हैं। चिड़ियाँ चहचहाती हैं, मगर उसका बच्चा चिचियाता है।

दीन बकरी मिमियाती है, दीन कुत्ता रिरियाता है, दीन मानव गिड़-गिड़ाता है। और मैं जो कुछ कह रहा हूँ, आपको लगेगा कि यह बड़-बड़ाता है; उस पर आप कुछ कहेंगे तो मैं समझूँगा कि व्यर्थ भड़-भड़ाते हैं। यही कह दूँगा तो आप बौखला उठेंगे, और मैं फिसफिसाकर रह जाऊँगा।

फिर सन्नाटा हो जायगा। लेकिन सुनिए तो, सन्नाटे का स्वर है, साँय-साँय। याकि—?

—'अज्ञेय'

प्रश्न-अभ्यास

१. 'सन्नाटा शब्द का ही गुण है।' लेखक के इस कथन को समझाइए।
२. ध्वन्यनुसारी शब्द किन्हें कहते हैं? पाँच उदाहरण दीजिए।
३. जिस प्रकार स्वर के क्षेत्र में सन्नाटा नकारात्मक प्रतीत होता है उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के क्षेत्र में उदाहरण दीजिए।
४. मानव सम्पूर्ण नकार से क्यों डरता है। नकार के विषय में लेखक के विचार बताइए।
५. लेखक ने सन्नाटा के लिए प्रयुक्त भाँय-भाँय के प्रयोग में शब्द-निर्माण की कौन-सी टेकनिक के दर्शन किये हैं?
६, वे कौन-कौन से कारण हैं जिनसे ध्वन्यनुसारी शब्दों में भी भेद दिखायी पड़ता है? ध्वन्यनुसारी शब्द का कोई एक उदाहरण लेकर उसके विविध भेदों का कारण सहित उल्लेख कीजिए।
७. ईश्वर के सब विशेषण नकारात्मक क्यों हैं?
८. गुनगुनाहट एवं भिनभिनाहट शब्द गुनगुन एवं भिन-भिन शब्दों में 'आहट' प्रत्यय के योग से बने हैं। 'आहट' प्रत्यय के योग से बने अन्य पाँच शब्द बताइए।
९. ज्ञानेन्द्रियों के नाम और उनके विषय बताइए।
१०. शब्द-निर्माण में ध्वनि का अनुसरण एक मुख्य स्थान रखता है। कैसे? उदाहरण देकर समझाइए।
११. निम्नलिखित अवतरणों की सन्दर्भ सहित व्याख्या कीजिए :—
(१) 'स्थिति वैचित्र्य तो'''सीधी-सी बात वे भूल गये।'
(२) 'और शायद सन्नाटे की साँय-साँय'''सनसनाती हुई मुक्त हवा।'

डॉ० नगेन्द्र (सन् १९१५)

हिन्दी के गद्य शैलीकारों एवं निबन्ध लेखकों में डॉ० नगेन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अधिकांश श्रेष्ठ निबन्ध समीक्षात्मक हैं, जिनमें साहित्य के सिद्धान्तों, साहित्यकारों और श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का प्रौढ़ भाषा में गम्भीर विवेचन हुआ है। इनके अतिरिक्त उनके कुछ निबन्ध आत्मपरक, संस्मरणात्मक और यात्रा-सम्बन्धी भी हैं। उनका सहृदय व्यक्तित्व इन सभी में ओतप्रोत है।

परिवार और परिवेश का प्रभाव लेखक पर अनिवार्यतः पड़ता है। डॉ० नगेन्द्र का जन्म एक धनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनके पिता पं० राजेन्द्र जी एक आर्यसमाजी नेता और लेखक थे। पैतृक व्यवसाय जमींदारी था। डॉ० नगेन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा उनके जन्म-स्थान अतरौली और फिर अनूपशहर में हुई, माध्यमिक शिक्षा चंदौसी में और उच्चतर शिक्षा आगरा के सेन्ट जान्स कालेज में हुई। इसी कालेज से उन्होंने अंग्रेजी में एम० ए० सन् १९३६ में किया, फिर सन् १९३७ में व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में हिन्दी में एम० ए० नागपुर विश्वविद्यालय से किया। आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९४७ में उन्होंने डी० लिट्० की डिग्री प्राप्त की। उनकी प्रतिभा का बीज-वपन आगरा में हुआ, और सेन्ट जान्स कालिज का वातावरण तथा आगरा की सुप्रसिद्ध आलोचनात्मक पत्रिका **साहित्य सन्देश** उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के विधान में विशेष सहायक हुए।

डॉ० नगेन्द्र का वर्तमान कैरियर वास्तव में दिल्ली में ही आरम्भ, विकसित और पोषित हुआ। प्रारम्भ में वे दिल्ली के रामजस कालिज आफ कामर्स में अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हुए, फिर आकाशवाणी के हिन्दी समाचार-विभाग के निरीक्षक और तत्पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक फिर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष नियुक्त हुए।

डॉ० नगेन्द्र ने सामाजिक और राजनैतिक जीवन से दूर रह कर अधिकांश समय साहित्यिक सेवा में ही लगाया और इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे। प्रायः सभी प्रकार की विशिष्ट हिन्दी संस्थाओं एवं भारत सरकार की हिन्दी

समितियों के वे परामर्शदाता रहे और विभिन्न संस्थाओं द्वारा उन्हें सम्मानित किया गया। उनकी कृतियों पर डालमिया पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति पुरस्कार, मध्य प्रदेश हिन्दी परिषद् पुरस्कार और दिल्ली की साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किये गये हैं। भारत सरकार की पारिभाषिक शब्दावली और कोश-निर्माण की योजना में उन्होंने मानविकी विद्याओं के शब्दकोश का सम्पादन किया और इन दिनों भी दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफ़ेसर होने के साथ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के एक सम्मानित परामर्शदाता भी हैं।

डॉ० नगेन्द्र के साहित्य-सृजन का आरम्भ कविता और समीक्षात्मक लेखों से हुआ। १. **वनबाला** और २. **छन्दमयी** उनके काव्य-संग्रह हैं और प्रारम्भिक समीक्षात्मक कृतियाँ हैं—३. **सुमित्रानन्दन पंत**, ४. **साकेत : एक अध्ययन** और ५. **आधुनिक हिन्दी नाटक**। इन तीन प्रारम्भिक कृतियों के द्वारा वे सन् १९४० तक ही हिन्दी के समालोचना-जगत् में सुप्रतिष्ठित हो चुके थे। उनकी अन्य सुप्रसिद्ध कृतियाँ हैं—६. **विचार और अनुभूति**, ७. **विचार और विवेचन**, ८. **विचार और विश्लेषण**, ९. **आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ**, १०. **रीतिकाव्य की भूमिका** तथा ११. **देव और उनकी कविता**। १२. **आस्था के चरण** में उनके समस्त लेखों का संग्रह किया गया है। १३. **अप्रवासी की यात्राएँ** में उनके यात्रा-संस्मरण हैं।

डॉ० नगेन्द्र हृदय से कवि और स्वभाव से समीक्षक अर्थात् साहित्य के रसास्वादक हैं। अतः उनके निबन्धों में सहृदयता और पांडित्य का संतुलन है। अध्यापन के व्यवसाय का प्रभाव भी उनकी निबन्ध-शैली पर अंकित हुआ है। वे निबन्ध को एक कला-सृष्टि मानते हैं, जिसका आदि-मध्य-अन्त अत्यन्त सावधानीपूर्वक प्रकल्पित और प्रणीत होता है। वे अपने विचारों को पूरे मनन के उपरान्त रचना का रूप देते हैं, जिसकी उठान, विकास और परिणति कलाकार के संयम की सूचक होती है। उनकी निबन्धों की कसावट, स्फटिक तुल्य पारदर्शिता, तर्कसंगत विचार-गुंफन, कट्टरता से रहित दृढ़ता, प्रत्येक तथ्य के सभी पहलुओं पर धैर्य से विचार करना और पाठक के साथ मिलकर साहित्यिक कृति का रस ग्रहण करना आदि ऐसे गुण हैं जिन्होंने उन्हें विशेष लोकप्रियता प्रदान की है।

डॉ० नगेन्द्र के भाषा-प्रयोगों में विशेष सावधानी, संयम और समन्वय लक्षित होता है। सामान्यतः वे संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं, जो सामान्य पाठक के लिए कठिन होकर भी, आलोचना के लिए अनिवार्य होती है। इसके

अतिरिक्त, आलोचनात्मक निबन्धों में पारिभाषिक शब्दावली का अधिक प्रयोग भी अनिवार्य होता जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने संस्कृत के साथ अंग्रेजी की भी पारिभाषिक शब्दावली का कहीं-कहीं प्रयोग किया है। फिर भी कुल मिलाकर भाषा इतनी स्पष्ट और निखरी हुई है कि उसमें उलझन अथवा दुरूहता नहीं आने पाती।

प्रस्तुत निबन्ध आलोचक की आस्था शीर्षक संग्रह से लिया गया है। इसमें लेखक ने वास्तव में आलोचक के रूप में आत्म-विश्लेषण ही किया है, अर्थात् आलोचना लिखने के साथ-साथ उन्हें जो निजी अनुभव प्राप्त हुए हैं उनका विवेचन किया है। वे आलोचना को कोरा बौद्धिक विवेचन न मानकर ललित अर्थात् रसात्मक और आनन्दायी साहित्य का अंग मानते हैं। उसमें कलात्मकता और बौद्धिकता का सुखद सामंजस्य होता है। सामान्य पाठक अपने रसास्वादन को प्रकट नहीं कर पाता अथवा प्रभावशाली ढंग से प्रकट नहीं करता, परन्तु आलोचक ऐसा करने में समर्थ होता है। इसी में उसकी प्रतिभा और सर्जनात्मकता प्रकट होती है।

———

आलोचक की आस्था

मैं व्यवसाय से आलोचक हूँ, अतः आपके मन में यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय में मेरी मान्यताएँ क्या हैं ? किन्तु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय में मैंने सबसे कम सोचा है। यह बात विचित्र लग सकती है, किन्तु है नहीं; क्योंकि आलोचना मेरे व्यवहार का विषय है, विचार का नहीं। जिस प्रकार कवि असल मानी में कविता की रचना से ही सरोकार रखता है, उसके तत्त्व-चिन्तन से नहीं, उसी प्रकार आलोचक भी मूलतः काव्य का ही विचार करता है, आलोचना का नहीं। लेकिन जिस तरह कवि-कर्म के प्रति प्रबुद्ध कवि-काव्य का तत्त्व-चिंतन कर सकता है और प्रायः करता भी है, इसी तरह अलोचक के लिए भी अपने कर्म की व्याख्या, अर्थात् उसके आदर्श तथा व्यवहार की व्याख्या, प्रस्तुत करना कठिन नहीं है : और, जो हाजिर है उसमें हुज्जत क्या !

आलोचना को मैं निश्चय ही ललित साहित्य का अंग मानता हूँ। आलोचना कला है या विज्ञान ? यह प्रश्न नया नहीं है।—लेकिन आलोचना के स्वरूप-निर्धारण में इसकी सार्थकता आज भी असंदिग्ध है। आलोचना की आत्मा कलामय है किन्तु इसकी शरीर-रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ यह है कि आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है—यहाँ भी आलोचक कला-कृति के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है। आलोचना का विषय रसात्मक होता है और आलोचना की परिणति भी आत्मसिद्धि में ही होती है, अतः रस का अभिषेक आलोचना में भी रहता है।

शरीर-रचना के वैज्ञानिक होने का आशय यह है कि आलोचना की पद्धति में विज्ञान के रीति-नियमों का पालन करना आवश्यक तथा उपादेय होता है। यही वह गुण है जो आलोचक को सामान्य सहृदय से वैशिष्ट्य प्रदान करता है। मैंने आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व आत्म-निरीक्षण के आधार पर अपने एक लेख में यह स्थापना की थी कि आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक होता है। उस समय मेरा शास्त्र से घनिष्ठ परिचय नहीं था, इसलिए शास्त्र के परिचित पारिभाषिक शब्द 'सहृदय' के स्थान पर मुझे 'रसग्राही पाठक' शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा था। मेरी मान्यता अब भी वही है, शास्त्र ने उसे और पुष्ट कर दिया है। कृति के रस-ग्रहण के संदर्भ में आलोचक सहृदय से अभिन्न है, किन्तु इस रस-तत्त्व के विवेचन में वह पाठक से विशिष्ट है। दोनों के भेद की बात बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी कि क्रोचे ने साधारण कलाकार और विशेष व्यवसायी कलाकार के भेद के विषय में कही है—क्रोचे के मत से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है—उसमें और व्यावसायिक कलाकार में भेद प्रकृति का नहीं होता : गुण और मात्रा का होता है अर्थात् व्यावसायिक कवि के पास सामान्य व्यक्ति-कवि की अपेक्षा अपनी सहजानुभूति को मूर्त्त रूप प्रदान करने के साधन एवं उपकरण अधिक होते हैं। यही भेद सामान्य सहृदय और विशेष सहृदय अर्थात् आलोचक में होता है। साहित्य का आस्वादन दोनों ही करते हैं किन्तु उस आस्वादन का विश्लेषण आलोचक ही कर सकता है। कुछ विदग्धों के मन में यह शंका उठती है कि इस विवेचन-विश्लेषण से क्या लाभ? अर्थात् भोक्ता और कर्त्ता के बीच में इस मध्यस्थ अभिकर्त्ता की क्या आवश्यकता? आलोचक के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही होता है जैसा कि जीवन-व्यवहार में सामान्य उपभोक्ता का अभिकर्त्ता या एजेण्ट के प्रति होता है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है। वैसे तो अर्थ-विधान के अंतर्गत अभिकर्त्ता का महत्त्व भी कम नहीं है—वह निर्माता के समकक्ष नहीं है, यह ठीक है; परन्तु निर्माता

उस पर काफ़ी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्त्ता नहीं है। उसकी भूमिका कहीं अधिक सर्जनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नहीं है, किन्तु उसका कर्म भी अपने ढंग से सर्जनात्मक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है पर कवि अपने विषय का सृजन नहीं करता, पुनःसृजन ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुनःसृजन करता है। सृजन के ही अर्थ में आलोचना-शास्त्र के अन्तर्गत एक और सरल शब्द का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यंत परिचित परिभाषा है—काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करते हुए सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहाँ भी, स्पष्ट है कि आख्यान विवेचन मात्र का वाचक न होकर पुनःसृजन का ही वाचक है, अन्यथा 'काव्य जीवन का आख्यान है'—यह वाक्य सही अर्थ खो बैठता है। आलोचना के सन्दर्भ में भी आख्यान वस्तु-विश्लेषण मात्र नहीं है, यहाँ भी पुनःसृजन की प्रक्रिया चलती है। भेद केवल दो हैं। पहला भेद करण या साधक का है—अर्थात् कवि के साधनों में भावना और कल्पना प्रधान है, बुद्धि प्रायः संश्लेषण में ही सहायक होती है; जबकि आलोचक के कर्म में मूलतः भावना और कल्पना का सम्यक् उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सृजन-शक्ति के बलाबल का है। कवि जीवन का पुनःसृजन करता है और आलोचक काव्य का, अर्थात् जीवन के पुनःसृजन का पुनःसृजन करता है। सृजन का परिणाम है पदार्थ और पुनःसृजन का परिणाम है बिम्ब। अतएव कवि-व्यापार में बिम्ब-रचना का ही प्राधान्य रहता है। इस पद्धति से पुनःसृजन के पुनःसृजन का अर्थ होता है बिम्ब के भी बिम्ब = प्रतिबिम्ब का निर्माण, अर्थात् ऐसे बिम्ब का निर्माण जो रचना-प्रक्रिया में बिम्ब की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और

धूमिल हो जाता है। इस प्रकार, आलोचक का कर्म कवि-कर्म की अपेक्षा कम सर्जनात्मक रह जाता है, यह सच है। कवि-कर्म में जहाँ बिम्बों के प्रयोग की प्रचुरता रहती है वहाँ आलोचना में इन बिम्बों की धारणा या प्रत्यय अधिक उपयोग में आते हैं—और सही शब्दों में काव्य में ऐन्द्रिय-मानसिक बिम्ब प्रमुख रहते हैं जबकि आलोचना में मानसिक-प्रज्ञात्मक बिम्बों का अधिकांश रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि-कथाकार और आलोचक की सर्जन-क्षमता में मात्रा और साधन-उपकरण का ही भेद अधिक है, प्रकृति का भेद इतना नहीं है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीड़ा नहीं है, इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विलास नहीं है। कविता, उपन्यास या नाटक की भाँति आलोचना भी सर्जनात्मक संदर्शन (क्रिएटिव विज़न) से अनुविद्ध एवं परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय (राग-कल्पनात्मक) अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि की इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूँ।

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अन्य कर्त्तव्य-कर्मों की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन, उसकी गतिविधि का नियमन; आदि। मेरी दृष्टि से यह सब आरोपित दायित्व है, और काफ़ी हद तक व्यवसायिक कर्म है। मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—वह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेषण करते हुए आपसे-आप दोनों प्रकार के तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं : ऐसे तत्त्व जो उसके आस्वाद्यत्व के साधक हैं और वे तत्त्व भी जो उसमें बाधक हैं। आस्वाद के विश्लेषण में उसके उन स्थायी और अस्थायी तत्त्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः नैतिक और मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार

मूल्यांकन कोई स्वतन्त्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग—सही शब्दों में—परिणामी अंग है, और, इस रूप में वह काम्य भी है, कम-से-कम, उपादेय तो है ही किन्तु, स्वतन्त्र कर्म के रूप में वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म में जितना अन्तर है, उतना ही मूल्यांकन और आलोचना के सहज रूप में भी पड़ जाता है : स्वतन्त्र रूप में मूल्यांकन, वास्तव में, सर्जनात्मक नहीं रह जाता।

साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है; उसमें रस के स्थान पर शक्ति की स्पृहा ही प्रमुख हो जाती है। वहाँ सर्जना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बलाबल की नापतोल ही सामने रहती है। मैं समझता हूँ कि यहाँ साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मताग्रह का बोलबाला हो जाता है और रागद्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का संवर्धन ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस के साहित्य के अन्तर्गत यह सब नहीं आ सकता। इस प्रकार का दम्भ लेकर जो आलोचक चलता है, वह समर्थ प्रचारक तो बन सकता है मर्मवेत्ता साहित्यकार नहीं।

आप शायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण देकर मेरी स्थापना का खण्डन करना चाहें। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति संस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है :

> **भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।**
> **एषा सञ्जीविनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥**
>
> —मल्लिनाथ, सं० टी० कुमारसम्भव १।१

—कालिदास की भारती दुर्व्याख्या के विष से मूर्छित पड़ी थी; मेरी यह संजीवनी टीका आज उसे जीवनदान करेगी।

आचार्य शुक्ल ने भी क्या जायसी का उद्धार नहीं किया? मैं समझता हूँ कि यह दृष्टि-भ्रम है। मल्लिनाथ और आचार्य शुक्ल को

निमित्त होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है—किन्तु कालिदास या जायसी के निर्माता ये कैसे माने जा सकते हैं ? कालिदास के संदर्भ में मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्त्व आलोचक के आत्मतोष से अधिक मानना क्या किसी मर्मज्ञ के लिए सम्भव है ? वास्तव में उसे अभिधार्थ में ग्रहण करने की मूर्खता कौन कर सकता है ? इसमें सन्देह नहीं कि जायसी को प्रकाश में लाने का श्रेय शुक्लजी को है ? किंतु शुक्लजी को अधिक-से-अधिक अनुसंधान का ही गौरव दिया जा सकता है। रत्न की खोज या परख करने वाला, रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नहीं हो सकता। इसी अर्थ में, बड़े-से-बड़ा आलोचक भी कवि को बनाने या बिगाड़ने का गर्व नहीं कर सकता। महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय में मैथिलीशरण गुप्त के निर्माण का दावा करना उतना ही ग़लत है जितना 'विशाल भारत' के सम्पादक के लिए 'निराला' को नष्ट कर देने का दंभ करना।

इसी प्रकार, साहित्य की गतिविधि के नियन्त्रण का दायित्व भी आलोचक के स्वधर्म से बाहर की बात है। साहित्य का विकास प्रज्ञा के आधार पर न होकर सर्जना के आधार पर ही होता है; और जैसा कि मैं अभी स्पष्ट कर चुका हूँ,—समान स्तर पर तुलना करने पर—कलाकार की सर्जना-शक्ति आलोचक की सर्जना-शक्ति से अधिक प्रबल ठहरती ही है। जो साहित्य आलोचना की गर्मी से मुरझा जाय या जिसके विकास के लिए आलोचना के सहारे की जरूरत पड़े उसमें प्राण-शक्ति कम ही माननी चाहिए : साहित्य की दिशा तो स्रष्टा कलाकार ही देता है। आलोचक संघात और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा पर शाण रखने का कार्य करता है। उदाहरण के लिए, शुक्लजी जैसे आलोचक की मेधा की चट्टान से टकराकर छायावादी कवियों की प्राणधारा में और भी अधिक वेग आ गया था। अभी किसी लेखक ने नई कविता की सफाई में लिखा था कि उसे वैसे समर्थ आलोचक नहीं मिले जैसे कि छायावाद को अनायास ही प्राप्त हो गये थे। मैं

समझता हूँ कि यह उलटी दलील है। वास्तव में छायावाद की आलोचना इसलिए अधिक पुष्ट और प्रौढ़ है कि उसका आलोच्य विषय अपेक्षाकृत अधिक भव्य है; क्योंकि यह तो एक परीक्षित तथ्य है कि किसी युग की आलोचना का स्तर उसके साहित्य के स्तर को अबाध रूप से प्रतिबिम्बित करता है। अतः साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण करने की महत्त्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकर नहीं हो सकती। मेरे मन में यह आकांक्षा कभी नहीं उत्पन्न हुई। आलोचना-कर्म के प्रति मेरे अपने दृष्टिकोण में इसके लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा। इसीलिए प्रायः प्रतिष्ठित, या ऐसा काव्य ही, जिसमें स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हों, मेरी आलोचना का विषय रहा है—किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मेरे मन में नहीं आयी। इसीलिए, शायद अपने सामयिक या नये लेखकों में मैं कभी लोकप्रिय नहीं हो सका। पर, मैं इसे अपना दुर्भाग्य नहीं मानता, क्योंकि आलोच्य विषयों की गरिमा से जो कुछ मैंने पाया है वह लोकप्रियता से अधिक काम्य और स्थायी है।

—डॉ० नगेन्द्र

प्रश्न-अभ्यास

१. निम्नलिखित उक्तियों का स्पष्टीकरण कीजिए :
   (क) 'आलोचना मेरे व्यवहार का विषय है विचार का नहीं।'
   (ख) 'आलोचना की आत्मा कलामय है, किन्तु इसकी शरीर रचना वैज्ञानिक है।'
   (ग) 'आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है।'
   (घ) 'काव्य जीवन का आख्यान है और आलोचना काव्य का आख्यान।'
   (ङ) 'कवि जीवन का पुनःसृजन करता है और आलोचक काव्य का।'

२. निम्नलिखित शब्दों का अर्थ स्पष्ट कीजिए—
   आत्माभिव्यक्ति, आत्मलाभ, अभिकर्त्ता, आत्मनिरीक्षण, सहृदय, कृतिकार, तत्त्वचिन्तन, विदग्ध, मताग्रह।

३. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ में अन्तर समझाइए—
आख्यान-व्याख्यान, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, प्रचार-प्रसार, विवेचन-विश्लेषण, सृजन-निर्माण, रचना-व्यवस्था, परम्परा-पद्धति ।

४. डॉ० नगेन्द्र के व्यक्तित्व की विशेषता है कि वे अपनी बात को बलपूर्वक और स्पष्ट रूप में कहते हैं—ऐसे चार उदाहरण इस निबन्ध में छाँटिए ।

५. किन आलोचकों ने किन कवियों के उद्धार और प्रतिष्ठा अथवा विरोध और विनाश में विशेष भाग लिया ? ऐसे चार उदाहरण इस निबन्ध से प्रस्तुत कीजिए ।

६. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर डॉ० नगेन्द्र की भाषा-शैली की विशेषताएँ बताइए ।

७. 'आलोचक की आस्था' निबन्ध की सामान्य विशेषताएँ बताइए ।

८. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर लेखक के मन्तव्य को स्पष्ट कीजिए ।

९. विचारात्मक निबन्ध की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए सिद्ध कीजिए कि प्रस्तुत निबन्ध विचारात्मक है ।

———

प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी (सन् १९१९)

प्रोफेसर जी० सुन्दर रेड्डी श्रेष्ठ विचारक, समालोचक एवं निबन्धकार हैं। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। गत बत्तीस वर्षों से वे आन्ध्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। संप्रति वे वहाँ के स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर हैं। इनके निर्देशन में हिन्दी और तेलुगु साहित्यों के विविध पक्षों के तुलनात्मक अध्ययन पर शोध कार्य हो रहा है।

अब तक रेड्डी जी के आठ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी १. **साहित्य और समाज**, २. **मेरे विचार**, ३. **हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन**, ४. **दक्षिण की भाषाएँ और उनका साहित्य**, ५. **वैचारिकी**, **शोध और बोध**, ६. **वेलुगु बारुल** (तेलुगु) ७. **लांग्वेज प्रोबलम इन इंडिया** (संपादित अंग्रेजी ग्रंथ) आदि कृतियों से साहित्य संसार सुपरिचित है। इनके अतिरिक्त हिन्दी, तेलुगु तथा अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में कई निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। उनके प्रत्येक निबन्ध में उनका मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

(१) **हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन**—में रेड्डी जी ने दोनों साहित्यों की प्रमुख प्रवृत्तियों तथा प्रमुख साहित्यकारों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस कृति की उपादेयता के सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल डॉ० वी० गोपाल रेड्डी जी ने लिखा है—"**यह ग्रंथ तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र का पथप्रदर्शक है।**"

(२) **दक्षिण की भाषाएँ, और उनका साहित्य**— में इन्होंने दक्षिण भारत की चारों भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम) तथा उनके साहित्यों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उनकी आधुनिक गतिविधियों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। सभी ग्रन्थों में इनकी भाषा-शैली सर्वथा भाव और विषय के अनुकूल बन पड़ी है, जिसमें इनका साहित्यिक व्यक्तित्व पूर्णरूप से मुखरित हुआ है।

इनका प्रस्तुत निवन्ध 'भाषा और आधुनिकता' उक्त विशेषताओं का ज्वलन्त उदाहरण है ।

श्री रेड्डी की हिन्दी साहित्य-सेवा, साधना एवं निष्ठा सराहनीय हैं। हिन्दीतर प्रदेश के निवासी होते हुए भी प्रो० रेड्डी ने हिन्दी भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया है। इनकी भाषा परिमार्जित तथा सशक्त है और शैली विषय के अनुसार ढल जाती है। कठिन से कठिन विषय को सरल एवं सुबोध ढंग से प्रस्तुत करना इनकी अपनी विशेषता है। प्रो० रेड्डी से हिन्दी साहित्य को आगे भी बड़ी आशाएँ हैं।

भाषा की समस्याओं पर विद्वानों ने बहुत लिखा है। परन्तु भाषा और आधुनिकता पर विशेष रूप से नहीं लिखा गया। विद्वान् लेखक ने वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा और आधुनिकता पर विचार किया है। भाषा परिवर्तनशील होती है इसका इतना ही अर्थ है कि भाषा में नये भाव, नये शब्द, नये मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ नयी रीतियाँ सदैव आती रहती हैं। इन सब का प्रयोग ही भाषा को व्यावहारिकता प्रदान करता हुआ भाषा में आधुनिकता लाता है। विद्वान् लेखक का मत है कि हमें वैज्ञानिक शब्दावली को ज्यों का त्यों लेना चाहिए। व्यावहारिकता की दृष्टि से प्रो० रेड्डी का यह सुझाव विचारणीय है।

———

भाषा और आधुनिकता

किसी भी क्षेत्र में रमणीमता लाने के लिए नित्य नूतनता की आवश्यकता होती है, इसी को दृष्टि में रखकर ही माघ ने कहा होगा:—

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'

रमणीयता और नित्य नूतनता अन्योन्याश्रित हैं, रमणीयता के अभाव में कोई भी चीज मान्य नहीं होती। नित्य नूतनता किसी भी सर्जक की मौलिक उपलब्धि की प्रामाणिकता सूचित करती है और उसकी अनुपस्थिति में कोई भी चीज वस्तुत: जनता व समाज के द्वारा स्वीकार्य नहीं होती। सड़ी-गली मान्यताओं से जकड़ा हुआ समाज जैसे आगे बढ़ नहीं पाता, वैसे ही पुरानी रीतियों और शैलियों की परंपरागत लीक पर चलनेवाली भाषा भी जन-चेतना को गति देने में प्राय: असमर्थ ही रह जाती है। भाषा समूची युग-चेतना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है और ऐसी सशक्तता तभी वह अर्जित कर सकती है जब वह अपने युगानुकूल सही मुहावरों को ग्रहण कर सके। भाषा सामाजिक भाव-प्रकटीकरण की सुबोधता के लिए ही उद्दिष्ट है, उसके अतिरिक्त उसकी जरूरत ही नहीं सोची जाती। इस उपयोगिता की सार्थकता समसामयिक सामाजिक चेतना में प्राप्त (द्रष्टव्य) अनेक प्रकारों की संश्लिष्टताओं की दुरूहता का परिहार करने में ही निहित है। कभी-कभी अन्य संस्कृतियों के प्रभाव से और अन्य जातियों के संसर्ग से भाषा में नये शब्दों का प्रवेश होता है और इन शब्दों के सही पर्यायवाची शब्द अपनी भाषा में न प्राप्त हों तो उन्हें वैसे ही अपनी भाषा में स्वीकार करने में किसी भी भाषा-भाषी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यही भाषा की आधुनिकता होती है।

भाषा की सजीवता इस नवीनता को पूर्णतः आत्मसात् करने पर ही निर्भर करती है। भाषा 'म्यूजियम' की वस्तु नहीं है, उसकी स्वतःसिद्ध एक सहज गति है, जो सदैव नित्य नूतनता को ग्रहण कर चलने वाली है।

भाषा स्वयं संस्कृति का एक अटूट अंग है। संस्कृति परंपरा से निःसृत होने पर भी, परिवर्तनशील और गतिशील है। उसकी गति विज्ञान की प्रगति के साथ जोड़ी जाती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव के कारण उद्‌भूत नयी सांस्कृतिक हलचलों को शाब्दिक रूप देने के लिए भाषा के परंपरागत प्रयोग पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए नये प्रयोगों की, नयी भाव-योजनाओं को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों की खोज की महती आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह है कि भाषा में ये परिवर्तन कैसे संभव हैं? यत्नसाध्य अथवा सहजसिद्ध? यत्नसाध्य से हमारा तात्पर्य यह है कि भाषा को युगानुकूल बनाने के पीछे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति-समूह का प्रयत्न होना ही चाहिए। सहजसिद्ध से आशय इतना ही है कि भाषा की यह गति स्वाभाविक होने के कारण यह किसी प्रयत्न-विशेष की अपेक्षा नहीं रखती है। यदि उपलब्ध भाषा वैज्ञानिक आधारों का पर्याप्त अनुशीलन करें तो पहली बात ही सत्य सिद्ध होगी। अठारहवीं शती में अंग्रेजी भाषा ने और बीसवीं शती में जापानी भाषा ने इस नवीनीकरण की पद्धति को अपनी कोशिशों से सम्पन्न बनाया। हर भाषा की अपनी खास प्रवृत्ति होती है, शब्द-निर्माण तथा अर्थग्रहण की दिशा में उसका अपना अलग रुख होता है। उस विशेष प्रवृत्ति के रुख को ध्यान में रखकर ही, विना उस भाषा की मूल आत्मा को विकृत बनाये हम अन्य भाषागत शब्दों को स्वीकार कर सकते हैं, चंद रूपगत परिवर्तनों के साथ। यह काम एशिया और अफ्रीका जैसे वैज्ञानिक साहित्य-सृजन की दिशा में पिछड़े हुए देशों में और भी सत्वर होना चाहिए और इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

भाषा की साधारण इकाई शब्द है, शब्द के अभाव में भाषा का अस्तित्व ही दुरूह है। यदि भाषा में विकसनशीलता शुरू होती है तो शब्दों के स्तर पर ही। दैनंदिन सामाजिक व्यवहारों में हम कई ऐसे नवीन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, जो अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं से उधार लिये गये हैं। वैसे ही नये शब्दों का गठन भी अनजाने में अनायास ही होता है। ये शब्द अर्थात् उन विदेशी भाषाओं से सीधे अविकृत ढंग से उधार लिये गये शब्द, भले ही कामचलाऊ माध्यम से प्रयुक्त हों, साहित्यिक दायरे में कदापि ग्रहणीय नहीं। यदि ग्रहण करना पड़े तो उन्हें भाषा की मूल प्रकृति के अनुरूप साहित्यिक शुद्धता प्रदान करनी पड़ती है : यहाँ प्रयत्न की आवश्यकता प्रतीत होती है।

और एक प्रश्न यह है कि कौन इस साहित्यिक शुद्धीकरण का जिम्मा अपने ऊपर ले सकते हैं ? हिन्दी भाषा के नवीनीकरण (शुद्धीकरण) के लिए भारत सरकार ने अब तक काफी प्रयत्न किया है। इसके लिए सन् १९५० में शास्त्रीय एवं तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की गयी, जो विज्ञान की हर शाखा के लिए योग्य शब्दावली का निर्माण कर रही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी ऐच्छिक संस्थाओं ने भी इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण काम किया। राहुल सांकृत्यायन और डा० रघुवीर जैसे मूर्धन्य मनीषियों ने भी इस काम को पहले-पहल अपनी अभिरुचि के कारण अपने ऊपर लेकर, गतिशील बनाने की कोशिश की। अब तक इस दिशा में जो कुछ भी कार्य हुआ है, वह अपर्याप्त ही है। क्योंकि यह कार्य अपनी शैशवकालीन दशा से गुजरकर आगे बढ़ नहीं सका। इसकी प्रगति के अवरोध में दो वर्ग बाधा डालते हैं। प्रथम वह वर्ग, जो अपनी शुद्ध साहित्यिक दृष्टि के कारण आम प्रचलित उन पराये शब्दों को यथावत् ग्रहण करने में संकोच करता है। दूसरा वह वर्ग, जो अपने विषय के पारंगत होने पर भी साहित्यिक व भाषा वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के अभाव में उन प्रयुक्त विदेशी शब्दों को

मनमाने ढंग से विकृत कर अपनी मातृभाषा में थोपना चाहता है—आजकल कई प्रादेशिक सरकारों ने अपनी प्रांतीय भाषाओं में उच्च स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए कई आयोगों की स्थापना की है। हम आशा करते हैं कि ये आयोग उपर्युक्त उन बाधित तत्त्वों से हटकर अपना काम सुचारु बना सकेंगे।

विदेशी शब्द, जिन्हें अपनी प्रांतीय भाषाओं में ग्रहण करने की आवश्यकता है, खासतौर पर दो तरह के होते हैं : १–वस्तुसूचक २–भावसूचक।

विज्ञान की प्रगति के कारण नयी चीजों का निरंतर आविष्कार होता रहता है। जब कभी नया आविष्कार होता है; उसे एक नयी संज्ञा दी जाती है। जिस देश में उसकी सृष्टि की जाती है वह देश उस आविष्कार के नामकरण के लिए नया शब्द बनाता है। वही शब्द प्रायः अन्य देशों में बिना परिवर्तन के वैसे ही प्रयुक्त किया जाता है। यदि हर देश उसी चीज के लिए अपना-अपना अलग नाम देता रहेगा, तो उस चीज को समझने में ही दिक्कत होगी। जैसे रेडियो, टेलीविजन, स्पुत्निक। प्रायः सभी भाषाओं में इनके लिए एक ही शब्द प्रयुक्त है। और एक उदाहरण देखिए :—'सीढ़ी लगाना'। ऊपर चढ़ने के लिए अनादि काल से भारत में एक ही साधन मौजूद था—'सीढ़ी'। औद्योगिक क्रांति आदि ने आवश्यकता के अनुसार और भी कई तरह की सीढ़ियों का निर्माण किया जैसे लिफ्ट, एलिवेटर, एस्कलेटर आदि। भारतीयों के लिए ये बिल्कुल नये शब्द हैं और इसलिए भारतीय भाषाओं में इनके लिए अलग-अलग नाम द्रष्टव्य नहीं होते। इस स्थिति में उन शब्दों को यथावत् ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। फ्रेंच और लैटिन भाषाओं से अंग्रेजी ने ऐसे ही कई शब्दों को आत्मसात् कर लिया और अंग्रेजी से रूसी ने।

कभी-कभी एक ही भाव के होते हुए भी उसके द्वारा ही उसके और अन्य पहलू अथवा स्तर साफ व्यक्त नहीं होते। उस स्थिति में अपनी

भाषा में ही उपस्थित विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का सूक्ष्म भेदों के साथ प्रयोग करना पड़ता है। जैसे उष्ण एक भाव है। जब किसी वस्तु की उष्णता के बारे में कहना हो तो हम 'उष्मा' कहते हैं। और परिमाण के संदर्भ में उसी को हम 'ताप' कहते हैं। वस्तुतः अपनी मूल भाषा में उष्ण, उष्मा, ताप—इनमें उतना अंतर नहीं, जितना अब समझा जाता है। पहले अभ्यास की कमी के कारण जो शब्द कुछ कटु व विपरीत से प्रतीत होते हो सकते हैं, वे ही कालांतर में मामूली शब्द बनकर सर्वप्रचलित होते हैं।

नवीनीकरण कितना ही प्रशस्त कार्य क्यों न हुआ हो उस प्रक्रिया में यह भूलना नहीं चाहिए कि भाषा का मुख्य कार्य सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है। यदि सुस्पष्टता एवं निर्दिष्टता से कोई भी भाषा वंचित रहे, तो वह भाषा चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकेगी। नये शब्दों के निर्माण में भी यही बात सोचनी चाहिए। इस सन्दर्भ में यह भी याद रखना चाहिए कि हम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर उस शब्द की मूल आत्मा तथा सार्थकता पर उन्मुक्त विचार कर सकें। अंग्रेजी भाषा शासकों की भाषा रही और भाव-दासता की निशानी है—ऐसा सोचकर यदि हम नये शब्दों का निर्माण करने में लग जाँय, तो नुकसान हमारा ही होगा, अंग्रेजों का नहीं। उर्दू में प्रयुक्त अरबी और फारसी के शब्दों को जो इस्लाम धर्म को ज्ञापित करने वाले हैं, हिन्दी वाले त्यागना आरंभ करें, तो हिन्दी-भाषा सहज भाषा न रहकर एकदम बनावटी बनेगी।

यदि यह नवीनीकरण सिर्फ कुछ पंडितों की व आचार्यों की दिमागी कसरत ही बना रहे तो भाषा गतिशील नहीं होती। भाषा का सीधा संबंध प्रयोग से है और जनता से है। यदि नये शब्द अपने उद्‌गम स्थान में ही अड़े रहें और कहीं भी उनका प्रयोग किया नहीं जाय तो उसके पीछे के उद्‌देश्य पर ही कुठाराघात होगा। इसके लिए यूरोपीय देशों में प्रेषण के कई माध्यम हैं : श्रव्य-दृश्य विधान, वैज्ञानिक कथा-साहित्य आदि।

हमारी भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक कथा-साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। किसी भी नये विधान की सफलता अंततः जनता की सम्मति व असम्मति के आधार पर निर्भर करती है और जनता में इस चेतना को उजागर करने का उत्तरदायित्व शिक्षित समुदाय एवं सरकार का होना चाहिए। भाषा में आधुनिकता लाने के लिए व्यावहारिक भाषा के स्वरूप का मानकीकरण करने के साथ-साथ लिपि-संबंधी सुधार भी आवश्यक हैं। भाषा के प्रयोग और उपयोग के साथ इन समस्याओं का समाधान जुड़ा हुआ है।

संक्षेप में, नये शब्द, नये मुहावरे एवं नयी रीतियों के प्रयोगों से युक्त भाषा को व्यावहारिकता प्रदान करना ही भाषा में आधुनिकता लाना है। दूसरे शब्दों में केवल आधुनिक युगीन विचारधाराओं के अनुरूप नये शब्दों के गढ़ने मात्र से ही भाषा का विकास नहीं होता, वरन् नये पारिभाषिक शब्दों को एवं नूतन शैली-प्रणालियों को व्यवहार में लाना ही भाषा को आधुनिकता प्रदान करना है। क्योंकि व्यावहारिकता ही भाषा का प्राण-तत्त्व है। नये शब्द और नये प्रयोगों का पाठ्य पुस्तकों से लेकर साहित्यिक पुस्तकों तक एवं शिक्षित व्यक्तियों से लेकर अशिक्षित व्यक्तियों तक के सभी कार्यकलापों में प्रयुक्त होना आवश्यक है। इस तरह हम अपनी भाषा को अपने जीवन की सभी आवश्यकताओं के लिए जब प्रयुक्त कर सकेंगे तब भाषा में अपने-आप आधुनिकता आ जायेगी।

—प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी

प्रश्न-अभ्यास

१. 'भाषा समूची युग-चेतना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है।' स्पष्ट कीजिए।

२. लेखक की दृष्टि में भाषा की आधुनिकता का क्या आशय है ?

३. 'भाषा की गति विज्ञान की प्रगति के साथ जोड़ी जाती है।' इस उक्ति की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

४. हिन्दी भाषा के नवीनीकरण से लेखक का क्या अभिप्राय है ?

५. लेखक ने हिन्दी भाषा की प्रगति के लिए कौन-कौन से उपाय बताये हैं ?

६. भाषा को आधुनिक रूप प्रदान करने के लिए कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक हैं ?

७. निम्नलिखित अंशों की व्याख्या कीजिए :

(क) 'नित्य नूतनता किसी भी सर्जक की मौलिक उपलब्धि की प्रामाणिकता सूचित करती है।'

(ख) 'भाषा 'म्यूजियम' की वस्तु नहीं है, उसकी स्वतःसिद्ध एक सहज गति है।'

(ग) 'भाषा स्वयं संस्कृति का एक अटूट अंग है।'

८. लेखक ने निम्नलिखित शब्दों का किन अर्थों में प्रयोग किया है :
यत्नसाध्य, सहजसिद्ध, रमणीयता।

९. इस पाठ की भाषा-शैली की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

———

हरिशंकर परसाई (सन् १९२४)

हरिशंकर परसाई का जन्म मध्य प्रदेश में इटारसी के निकट स्थित जमानी नामक स्थान में २२ अगस्त सन् १९२४ को हुआ। प्रारम्भ से लेकर स्नातक-स्तर तक की शिक्षा मध्य प्रदेश में ही हुई और नागपुर विश्वविद्यालय से इन्होंने हिन्दी में एम० ए० किया। कुछ वर्षों तक इन्होंने अध्यापन कार्य किया। अध्यापन-कार्य में ये कुशल थे किन्तु आस्था के विपरीत अनेक बातों का अध्यापन इनको यदा-कदा खटक जाता था।

साहित्य में इनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। अध्यापन कार्य के साथ-साथ ये साहित्य-सृजन की ओर मुड़े और जब यह देखा कि इनकी नौकरी इनके साहित्यिक कार्य में बाधा पहुँचा रही है तो इन्होंने नौकरी को तिलांजलि दे दी और स्वतंत्र लेखन को ही अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित करके साहित्य-साधना में जुट गये। इन्होंने जबलपुर से 'वसुधा' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्रिका भी निकाली जिसके प्रकाशक व सम्पादक ये स्वयं थे। वर्षों तक विषम आर्थिक परिस्थिति में भी पत्रिका का प्रकाशन होता रहा और बाद में बहुत घाटा हो जाने पर इसे बन्द कर देना पड़ा। सामयिक साहित्य के पाठक इनके लेखों को वर्तमान समय की प्रमुख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ते हैं और परसाई जी नियमित रूप से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', तथा अन्य पत्रिकाओं के लिए अपनी रचनाएँ लिख रहे हैं।

परसाई जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

कहानी संग्रह—१. **हँसते हैं, रोते हैं**, २. **जैसे उनके दिन फिरे।**

उपन्यास—३. **रानी नागफनी की कहानी**, ४. **तट की खोज।**

निबन्ध संग्रह—५. **तब की बात और थी**, ६. **भूत के पाँव पीछे**, ७. **बेइमानी की परत**, ८. **पगडंडियों का जमाना**, ९. **सदाचार की ताबीज**, १०. **शिकायत मुझे भी है**, ११. **और अन्त में।**

परसाई जी द्वारा रचित कहानी, उपन्यास तथा निबन्ध व्यक्ति और समाज की

कमजोरियों पर चोट करते हैं। समाज और व्यक्ति में कुछ ऐसी विसंगतियाँ होती हैं जो जीवन को आडम्बरपूर्ण और दूभर बना देती हैं। इन्हीं विसंगतियों का पर्दाफाश परसाई जी ने किया है। कभी-कभी छोटी-छोटी बातें भी हमारे व्यक्तित्व को विघटित कर देती हैं। परसाई जी के लेख पढ़ने के बाद हमारा ध्यान इन विसंगतियों और कमजोरियों की ओर बरबस चला जाता है।

परसाई जी की शैली व्यंग्य-प्रधान है। एक प्रकार से परसाई जी व्यंग्य-लेखक ही हैं। आजकल व्यंग्य का नाम आते ही परसाई जी का नाम अपने-आप सफल व्यंग्य-लेखकों में आ जाता है। इनके व्यंग्य के विषय सामाजिक एवं राजनीतिक हैं। समय की कमजोरियों एवं राजनीति के फरेबों पर करारे व्यंग्य लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। भाषा में बोलचाल के शब्दों, तत्सम और विदेशी शब्दों का चुनाव उत्तम है। कहाँ कौन-सा शब्द अधिक चोट करेगा, कौन सा शब्द बात को अधिक अर्थवत्ता प्रदान करेगा, इसका ध्यान परसाई जी को सदा रहता है।

प्रस्तुत संग्रह में **निन्दा रस** निबन्ध व्यंग्य की दृष्टि से एक सुन्दर कलाकृति है। अनेक व्यक्ति एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव से निन्दा करते रहते हैं, कुछ व्यक्ति अपने स्वभाववश अकारण ही निन्दा में रस लेते रहते हैं, कुछ व्यक्ति अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए बड़ों की निन्दा में निर्लिप्त भाव से मग्न रहते हैं, कुछ मिशनरी निन्दक होते हैं और कुछ अन्य भावों से प्रेरित होकर निन्दा-कार्य में रत रहते हैं। इस निबन्ध में परसाई जी ने निन्दकों की अच्छी खबर ली है और उन पर करारी चोट की है। प्रहार तीव्र होते हुए भी पढ़ने में रुचिकर लगते हैं।

———

निन्दा रस

'क' कई महीने बाद आये थे। सुबह चाय पीकर अखबार देख रहा था कि वे तूफान की तरह कमरे में घुसे, 'साइक्लोन' की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ा तो मुझे धृतराष्ट्र की भुजाओं में जकड़े भीम के पुतले की याद आ गयी। वह धृतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अंधे धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए पूछा, "कहाँ है भीम ? आ बेटा, तुझे कलेजे से लगा लूँ।" और जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, तो उन्होंने प्राणघाती स्नेह से उसे जकड़कर चूर कर डाला।

ऐसे मौके पर हम अक्सर अपने पुतले को अँकवार में दे देते हैं, हम अलग खड़े देखते रहते हैं। 'क' से क्या मैं गले मिला ? क्या मुझे उसने समेट कर कलेजे से लगा लिया ? हरगिज नहीं। मैंने अपना पुतला ही उसे दिया। पुतला इसलिए उसकी भुजाओं में सौंप दिया कि मुझे मालूम था कि मैं धृतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र ने बताया कि 'क' अपनी ससुराल आया है और 'ग' के साथ बैठकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निन्दा करता रहा। इस सूचना के बाद जब आज सबेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निःस्नेह, कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी। भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाये है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त अभिनय में पूरा है। उसके आँसू भर नहीं आये, बाकी मिलन के हर्षोल्लास के सब चिह्न प्रकट हो गये—वह गहरी

आत्मीयता की जकड़, नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी।

बोला, "अभी सुबह गाड़ी से उतरा और एकदम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खण्ड दूसरे खण्ड से मिलने को आतुर रहता है।" आते ही झूठ बोला कम्बख्त। कल का आया है, यह मुझे मेरा मित्र बता गया था। इस झूठ में कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो। कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं। वे आदतन, प्रकृति के वशीभूत झूठ बोलते हैं। उनके मुख से निष्प्रयास, निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार ऐसे हैं। वे अगर बम्बई जा रहे हैं और उनसे पूछें, तो वे कहेंगे, 'कलकत्ता जा रहा हूँ।' ठीक बात उनके मुँह से निकल ही नहीं सकती। 'क' भी बड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।

वह बैठा। कब आये? कैसे हो?—वगैरह के बाद उसने 'ग' की निन्दा आरम्भ कर दी। मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब 'ग' पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खींची कि मैं यह सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी 'ग' के सामने इसने कल शाम को खींची होगी।

सुबह की बातचीत में 'ग' प्रमुख विषय था। फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छः वाक्यों में धराशायी करके वह बढ़ लेता।

अद्भुत है मेरा यह मित्र। उसके पास दोषों का 'केटलाग' है। मैंने सोचा कि जब वह हर परिचित की निन्दा कर रहा है, तो क्यों न मैं लगे हाथ विरोधियों की गत, इसके हाथों करा लूँ। मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निन्दा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मजदूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चीरता जाता है, वैसे ही

मैंने विरोधियों के नाम एक-एक कर खिसकाये और वह उन्हें काटता गया। कैसा आनन्द था। दुश्मनों को रण-क्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता होगा।

मेरे मन में गत रात्रि के उस निन्दक मित्र के प्रति मैल नहीं रहा। दोनों एक हो गये। भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है, दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते हैं। निन्दा का ऐसा ही भेद-नाशक अँधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह विदा हुआ, तो हम लोगों के मन में बड़ी शांति और तुष्टि थी।

निन्दा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निन्दकों को एक जगह बैठकर निन्दा में निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से जो रामधुन लगा रहे हैं। निन्दकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है। इसलिए संतों ने निन्दकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ 'मिशनरी' निन्दक मैंने देखे हैं। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर चौबीसों घंटे वे निन्दा कर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं। उनकी नितांत निर्लिप्तता, निष्पक्षता इसी से मालूम होती है कि वे प्रसंग आने पर अपने बाप की पगड़ी भी उसी आनन्द से उछालते हैं, जिस आनन्द से अन्य लोग दुश्मन की। निन्दा इनके लिए 'टानिक' होती है।

ट्रेड यूनियन के इस जमाने में निन्दकों के संघ बन गये हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ से खबरें लाते हैं और अपने संघ के प्रधान को सौंपते हैं। यह कच्चा माल हुआ। अब प्रधान उनका पक्का माल बनायेगा और सब सदस्यों को 'बहुजन हिताय' मुफ्त बाँटने के लिए दे देगा। यह फुरसत का काम है, इसलिए जिनके पास कुछ और करने को नहीं होता वे इसे बड़ी खूबी से करते हैं। एक दिन हमसे एक ऐसे संघ के अध्यक्ष ने कहा, "यार आजकल लोग तुम्हारे बारे में बहुत बुरा-बुरा कहते हैं।" हमने कहा, आपके बारे में मुझसे कोई भी बुरा नहीं

कहता। लोग जानते हैं कि आपके कानों के घूरे में इस तरह का कचरा मजे में डाला जा सकता है।

ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दा भी होती है। लेकिन इसमें वह मजा नहीं जो मिशनरी भाव से निन्दा करने में आता है। इस प्रकार का निन्दक बड़ा दुखी होता है। ईर्ष्या-द्वेष से चौबीसों घंटे जलता है और निन्दा का जल छिड़ककर कुछ शांति अनुभव करता है। ऐसा निन्दक बड़ा दयनीय होता है। अपनी अक्षमता से पीड़ित वह बेचारा दूसरे की सक्षमता के चाँद को देखकर सारी रात श्वान जैसा भौंकता है। ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दा करने वाले को कोई दण्ड देने की जरूरत नहीं है। वह निन्दक बेचारा स्वयं दण्डित होता है। आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता। उसे और क्या दंड चाहिए? निरंतर अच्छे काम करते जाने से उसका दंड भी सख्त होता जाता है। जैसे, एक कवि ने एक अच्छी कविता लिखी, ईर्ष्याग्रस्त निन्दक को कष्ट होगा! अब अगर एक और अच्छी लिख दी, तो उसका कष्ट दुगना हो जायगा।

निन्दा का उद्गम ही हीनता और कमजोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दबता है। वह दूसरों की निन्दा करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है। बड़ी लकीर को कुछ मिटाकर छोटी लकीर बड़ी बनती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों निन्दा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निन्दा को मारता है। इन्द्र बड़ा ईर्ष्यालु माना जाता है क्योंकि वह निठल्ला है। स्वर्ग में देवताओं को बिना उगाया अन्न, बे बनाया महल और बिन बोये फल मिलते हैं। अकर्मण्यता में उन्हें अप्रतिष्ठित होने का भय बना रहता है, इसलिए कर्मी मनुष्यों से उन्हें ईर्ष्या होती है।

निन्दा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा लंबा-चौड़ा व्यापार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की प्रतिष्ठा ही दूसरों की कलंक-कथाओं के पारायण पर आधारित होती है। बड़े रस-विभोर होकर वे

जिस-तिस की सत्य-कल्पित कलंक-कथा सुनाते हैं और स्वयं को पूर्ण संत समझने की तुष्टि का अनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए और सुन लीजिए, "बड़ा खराब जमाना आ गया। तुमने सुना ? फलाँ—और अमुक— ।" अपने चरित्र पर आँख डालकर देखने की उन्हें फुरसत नहीं होती। एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निन्दा अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उचक्का, दगाबाज आदमी है। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं बेईमानी से इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया ? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गयी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है, हममें हीनता और ग्लानि आती है। तब हम उसकी निन्दा करके उससे अपने को अच्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुलाकात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन में आ रहा है। अब कुछ तटस्थ हो गया हूँ। सुबह जब उसके साथ बैठा था तब मैं स्वयं निन्दा के 'काला सागर' में डूबता-उतराता था, कल्लोल कर रहा था। बड़ा रस है न निन्दा में। सूरदास ने इसलिए 'निन्दा सबद रसाल' कहा है।

—हरिशंकर परसाई

प्रश्न-अभ्यास

१. धृतराष्ट्र का उल्लेख लेखक ने क्यों किया है ?
२. लेखक ने अपने निन्दक मित्र की किन आदतों पर व्यंग्य किया है ?
३. निन्दा का उद्गम कब होता है ?
४. इस निबन्ध में निन्दकों के कितने प्रकार बताये गये हैं ?
५. निन्दा की प्रवृत्ति से बचने के क्या उपाय हो सकते हैं ?
६. "भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाये है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।" स्पष्ट कीजिए।
७. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए—
(क) 'अद्भुत है मेरा यह मित्र ! उसके पास दोषों का 'केटलाग' है।'
(ख) 'कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं।
(ग) 'निन्दा का ऐसा ही भेदनाशक अँधेरा होता है।'
(घ) 'कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निन्दा को मारता है।'
(ङ) 'इसलिए सन्तों ने निन्दकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।'
८. इस निबन्ध में से पाँच ऐसे कथनों को चुनिए जिन्हें व्यंग्य-कथन कहा जा सके। स्पष्ट कीजिए कि ये कथन आपको क्यों अच्छे लगते हैं और इसमें कौन-सा व्यंग्य निहित है ?
९. अपने किसी साथी पर आप व्यंग्य-प्रधान शैली में दस वाक्य लिखिए।
१०. प्रस्तुत निबन्ध का आशय अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

मोहन राकेश (सन् १९२५-७२)

मोहन राकेश आधुनिक नाटक साहित्य को नयी दिशा की ओर मोड़ने वाले प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने हिन्दी गद्य साहित्य को आधुनिक परिवेश के साथ सम्पृक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

इनका जन्म ८ जनवरी १९२५ में अमृतसर में हुआ था। इनके पिता श्री करमचन्द गुगलाली पेशे से वकील होते हुए भी साहित्य और संगीत में विशेष रुचि रखने वाले एक सहृदय व्यक्ति थे। इन्होंने लाहौर के ओरियंटल कालेज से शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद संस्कृत और हिन्दी दोनों से एम० ए० किया था।

शिक्षा समाप्ति के बाद इन्होंने जीविका के लिए अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। बम्बई, शिमला, जालन्धर और दिल्ली (विश्वविद्यालय) में अध्यापन-कार्य करने के बाद इन्होंने अनुभव किया कि अध्यापन का पेशा इनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। सन् १९६२-६३ में इन्होंने **सारिका** (हिन्दी की प्रसिद्ध कहानी पत्रिका) के संपादन का दायित्व सँभाला किन्तु कार्यालय की यांत्रिक कार्य-पद्धति से ऊबकर इन्होंने यह कार्य भी छोड़ दिया। सन् १९६३ से ७२ तक (जीवन के अंत तक) स्वतंत्र लेखक ही इनकी जीविका का आधार रहा। 'नाटक की भाषा' पर कार्य करने के लिए इनको नेहरू फेलोशिप भी प्रदान की गयी थी किन्तु असामयिक निधन के कारण यह कार्य पूरा न हो सका। इसलिए आर्थिक दृष्टि से ये बराबर अभाव की ही जिन्दगी व्यतीत करते रहे।

मोहन राकेश एक उत्कृष्ट नाटककार के रूप में विख्यात हैं किन्तु इन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, यात्रावृत्त और आत्मकथा (स्फुट मार्मिक आत्म-प्रसंगों का लेखन) जैसी गद्य-विधाओं को भी न केवल समृद्ध किया है वरन् इन्हें आधुनिक जीवन-बोध से मंडित किया है। इनकी रचनाएँ निम्नांकित हैं :—

नाटक—**१. आषाढ़ का एक दिन, २. लहरों के राजहंस, ३. आधे अधूरे, ४. अंडे के छिलके : अन्य एकांकी तथा बीज नाटक, ५. दूध और दांत**

(एकांकी, अप्रकाशित), ६. **मृच्छकटिक** तथा **शाकुन्तल** के हिन्दी नाट्य रूपान्तर (अप्रकाशित)।

उपन्यास—१. **अँधेरे बन्द कमरे**, २. **न आने वाला कल**, ३. **अन्तराल**, ४. **नीली रोशनी की बाहें** (अप्रकाशित)।

कहानियाँ—१. **क्वार्टर**, २. **पहचान**, ३. **वारिस**।

तीन संग्रह में कुल ५४ कहानियाँ।

निबन्ध संग्रह—१. **परिवेश**, २. **बकलमखुद**।

यात्रा विवरण—**आखिरी चट्टान तक**।

जीवन संकलन—**समय सारथी**।

मोहन राकेश के समग्र रचना-संसार में उनके व्यक्तित्व की छाप है। सौन्दर्य के प्रति एक अनबूझ भूख और आधुनिक मानवीय सम्बन्धों की जटिलता की सूक्ष्म संवेदना इनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ उनकी सभी कृतियों में लक्षित की जा सकती हैं। इनकी भाषा में बिम्बविधायिनी शक्ति है। मन के गहन तनावों को व्यक्त करने में वे पूर्णतः समर्थ हैं। प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य को मन में बसाकर उसे उपयुक्त शब्दों, रेखाओं रौर ध्वनि-बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करने में इनको अद्भुत सफलता मिली है। ये एक अच्छे साहित्य चिन्तक भी थे। अपने नाटकों और कहानियों की भूमिकाओं में इन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं वे संक्षिप्त होते हुए भी रचनाशिल्प की नवीनता को सशक्त ढंग से व्यक्त करने में समर्थ हैं। प्रस्तुत गद्य-रचना इनके यात्रावृत्त—**आखिरी चट्टान तक** का एक अंश है। इसमें कन्याकुमारी और उसके समीपवर्ती सागर तट का भव्य सौन्दर्य अत्यन्त सजीव, मार्मिक एवं कलात्मक शैली में चित्रित है। यात्रावृत्त के अन्तर्गत वर्णित प्रकृति चित्र प्रायः गत्यात्मक होते हैं। यहाँ मोहन राकेश ने चित्र में स्थिति, गति और प्रभाव का सम्मिलित वैशिष्ट्य दिखाकर अद्भुत विवरण-शिल्प का परिचय दिया है।

प्रस्तुत यात्रावृत्त में अरब सागर, बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर के मिलन बिन्दु पर हिन्द महासागर के भीतर दूर तक प्रविष्ट कन्याकुमारी की आखिरी चट्टान, उसके पीछे स्थित कन्याकुमारी का मन्दिर, पश्चिमी तट रेखा पर स्थित सैण्डहिल, सैण्डहिलों के पीछे पश्चिम क्षितिज पर डूबता हुआ सूर्य, नीचे सागर का अनन्त विस्तार, सागर तट पर उगे हुए नारियल वृक्षों के झुरमुट, पश्चिमी तट के साथ लगी हुई सूखी पहाड़ियों की शृंखला, सागर-तट की अनेक

रंगों वाली रेत, और तट को छूने के लिए मचलती हुई सागर की लहरों का अत्यन्त मोहक चित्र अंकित किया गया है। लेखक प्रकृति के इस बिखरे हुए सौन्दर्य को समेट लेना चाहता है और अपने को असमर्थ अनुभव कर उदास हो जाता है। गहराती हुई सन्ध्या के साथ उसे ज्वार में डूबने के खतरे का एहसास होता है किन्तु सहसा एक समीपवर्ती चट्टान पर चढ़कर वह ऊपर सड़क पर जाने का रास्ता पा लेता है और उसके मन का सारा भय दूर हो जाता है। उसे मंदिर में बजती हुई पूजा की घंटियों का रव सुनाई पड़ता है और वह लौटने की बात सोचने लगता है।

आखिरी चट्टान

कन्या-कुमारी। सुनहले सूर्योदय और सूर्यास्त की भूमि।

केप होटल के आगे बने बाथ टैंक के बायीं तरफ़, समुद्र के अन्दर से उभरी स्याह चट्टानों में से एक पर खड़ा हो कर मैं देर तक भारत के स्थल-भाग की आखिरी चट्टान को देखता रहा। पृष्ठभूमि में कन्या-कुमारी के मन्दिर की लाल और सफेद लकीरें चमक रही थीं। अरब सागर, हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी—इन तीनों के संगम-स्थल-सी वह चट्टान, जिस पर कभी स्वामी विवेकानन्द ने समाधि लगायी थी, हर तरफ से पानी की मार सहती हुई स्वयं भी समाधिस्थ-सी लग रही थी। हिन्द महासागर की ऊँची-ऊँची लहरें मेरे आस-पास की स्याह चट्टानों से टकरा रही थीं। बलखाती लहरें रास्ते की नुकीली चट्टानों से कटती हुई आती थीं जिससे उनके ऊपर चूरा बूँदों की जालियाँ बन जाती थीं। मैं देख रहा था और अपनी पूरी चेतना से महसूस कर रहा था—शक्ति का विस्तार, विस्तार की शक्ति। तीनों तरफ़ से क्षितिज तक पानी-ही-पानी था, फिर भी सामने का क्षितिज, हिन्द महासागर का, अपेक्षया अधिक दूर और अधिक गहरा जान पड़ता था। लगता था कि उस ओर दूसरा छोर है ही नहीं। तीनों ओर के क्षितिज को आँखों में समेटता मैं कुछ देर भूला रहा कि मैं मैं हूँ, एक जीवित व्यक्ति, दूर से आया यात्री, एक दर्शक। उस दृश्य के बीच मैं जैसे दृश्य का एक हिस्सा बन कर खड़ा रहा—बड़ी-बड़ी चट्टानों के बीच एक छोटी-सी चट्टान। जब अपना होश हुआ, तो देखा कि मेरी चट्टान भी तब तक बढ़ते पानी में काफ़ी घिर गयी है।

मेरा पूरा शरीर सिहर गया। मैंने एक नज़र फिर सामने के उमड़ते विस्तार पर डाली और पास की एक सुरक्षित चट्टान पर कूद कर दूसरी चट्टानों पर से होता हुआ किनारे पर पहुँच गया।

पच्छिमी क्षितिज में सूर्य धीरे-धीरे नीचे जा रहा था। मैं सूर्यास्त की दिशा में चलने लगा। दूर पच्छिमी तट-रेखा के एक मोड़ के पीली रेत का एक ऊँचा टीला नजर आ रहा था। सोचा उस टीले पर जाकर सूर्यास्त देखूँगा।

यात्रियों की कितनी ही टोलियाँ उस दिशा में जा रही थीं। मेरे आगे कुछ मिशनरी युवतियाँ मोक्ष की समस्या पर विचार करती चल रही थीं। मैं उनके पीछे-पीछे चलने लगा—चुपके से मोक्ष का कुछ रहस्य पा लेने के लिए। यूँ उनकी बातों से कहीं रहस्यमय आकर्षण उनके युवा शरीरों में था और पीली रेत की पृष्ठभूमि में उनके लबादों के हिलते हुए स्याह-सफ़ेद रंग बहुत आकर्षक लग रहे थे। मोक्ष का रहस्य अभी बीच में ही था कि हम लोग टीले पर पहुँच गये। यह वह 'सैण्डहिल' थी जिसकी चर्चा मैं वहाँ पहुँचने के बाद से ही सुन रहा था। सैण्डहिल पर बहुत से लोग थे। आठ-दस नवयुवतियाँ, छह-सात नवयुवक और दो-तीन गाँधी टोपियों वाले व्यक्ति। वे शायद सूर्यास्त देख रहे थे। गवर्नमेन्ट गेस्ट हाउस के बैरे उन्हें सूर्यास्त के समय की काफ़ी पिला रहे थे। उन लोगों के वहाँ होने से सैण्डहिल बहुत रंगीन हो उठी थी। कन्या कुमारी का सूर्यास्त देखने के लिए उन्होंने विशेष रुचि के साथ सुन्दर रंगों का रेशम पहना था। हवा समुद्र की तरह उस रेशम में भी लहरें पैदा कर रही थी। मिशनरी युवतियाँ वहाँ आकर थकी-सी एक तरफ़ बैठ गयीं—उस पूरे कैनवस में एक तरफ़ छिटके हुए कुछ बिन्दुओं की तरह। उनसे कुछ दूर पर एक रंगहीन बिन्दु, मैं, ज्यादा देर अपनी जगह स्थिर नहीं रह सका। सैण्डहिल से सामने का पूरा विस्तार तो दिखायी दे रहा था, पर अरब सागर की तरफ़ एक और ऊँचा टीला था जो उधर के विस्तार को ओट में

लिये था। सूर्यास्त पूरे विस्तार की पृष्ठभूमि में देखा जा सके, इसके लिए मैं कुछ देर सैण्डहिल पर रुका रहकर आगे उस टीले की तरफ़ चल दिया। पर रेत पर अपने अकेले क़दमों को घसीटता हुआ वहाँ पहुँचा, तो देखा कि उससे आगे उससे भी ऊँचा एक और टीला है। जल्दी-जल्दी चलते हुए मैंने एक के बाद एक कई टीले पार किये। टाँगें थक रही थीं, पर मन थकने को तैयार नहीं था। हर अगले टीले पर पहुँचने पर लगता था कि शायद अब एक ही टीला और है, उस पर पहुँच कर पच्छिमी क्षितिज का खुला विस्तार अवश्य नज़र आ जायेगा। और सचमुच एक टीले पर पहुँचकर वह खुला विस्तार सामने फैला दिखायी दे गया—वहाँ से दूर तक एक रेत की लंबी ढलान थी, जैसे वह टीले से समुद्र में उतरने का रास्ता हो। सूर्य तब पानी से थोड़ा ही ऊपर था। अपने प्रयत्न की सार्थकता से सन्तुष्ट होकर मैं टीले पर बैठ गया—ऐसे जैसे वह टीला संसार की सबसे ऊँची चोटी हो, और मैंने, सिर्फ़ मैंने, उस चोटी को पहली बार सर किया हो।

पीछे दायीं तरफ़ दूर-दूर हटकर उसे नारियलों के झुरमुट नजर आ रहे थे। गूँज़ती हुई तेज हवा से उनकी टहनियाँ ऊपर को उठ रही थीं। पच्छिमी तट के साथ-साथ सूखी पहाड़ियों की एक शृंखला दूर तक चली गयी थी जो सामने फैली रेत के कारण बहुत रूखी, बीहड़ और वीरान लग रही थीं। सूर्य पानी की सतह के पास पहुँच गया था। सुनहली किरणों ने पीली रेत को एक नया-सा रंग दे दिया था। उस रंग में रेत इस तरह चमक रही थी जैसे अभी-अभी उसका निर्माण करके उसे वहाँ उँड़ेला गया हो। मैंने उस रेत पर दूर तक बने अपने पैरों के निशानों को देखा। लगा जैसे रेत का कुँवारापन पहली बार उन निशानों से टूटा हो। इससे मन में एक सिहरन भी हुई, हलकी उदासी भी घिर आयी।

सूर्य का गोला पानी की सतह से छू गया। पानी पर दूर तक सोना-ही-सोना ढुल आया। पर वह रंग इतनी जल्दी-जल्दी बदल रहा था

कि किसी भी एक क्षण के लिए उसे एक नाम दे सकना असम्भव था। सूर्य का गोला जैसे एक बेबसी में पानी के लावे में डूबता जा रहा था। धीरे-धीरे वह पूरा डूब गया और कुछ क्षण पहले जहाँ सोना बह रहा था, वहाँ अब लहू बहता नज़र आने लगा। कुछ और क्षण बीतने पर वह लहू भी धीरे-धीरे बैंजनी और बैंजनी से काला पड़ गया। मैंने फिर एक बार मुड़ कर दायीं तरफ़ पीछे देख लिया। नारियलों की टहनियाँ उसी तरह हवा में ऊपर उठी थीं, हवा उसी तरह गूँज रही थी, पर पूरे दृश्यपट पर स्याही फैल गयी थी। एक दूसरे से दूर खड़े झुरमुट, स्याह पड़कर, जैसे लगातार सिर धुन रहे थे और हाथ-पैर पटक रहे थे। मैं अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और अपनी मुट्ठियाँ भींचता-खोलता कभी उस तरफ़ और कभी समुद्र की तरफ देखता रहा।

अचानक खयाल आया कि मुझे वहाँ से लौटकर भी जाना है। इस खयाल से ही शरीर में कँपकँपी भर गयी। दूर सैण्डहिल की तरफ़ देखा। वहाँ स्याही में डूबे कुछ धुँधले रंग हिलते नजर आ रहे थे। मैंने रंगों को पहचानने की कोशिश की, पर उतनी दूर से आकृतियों को अलग-अलग कर सकना सम्भव नहीं था। मेरे और उन रंगों के बीच स्याह पड़ती रेत के कितने ही टीले थे। मन में डर समाने लगा कि क्या अँधेरा होने से पहले मैं उन सब टीलों को पार करके जा सकूँगा? कुछ क़दम उस तरफ़ बढ़ा भी। पर लगा कि नहीं। उस रास्ते से जाऊँगा, तो शायद रेत में ही भटकता रह जाऊँगा। इसलिए सोचा बेहतर है नीचे समुद्र-तट पर उतर जाऊँ—तट का रास्ता निश्चित रूप से केप होटल के सामने तक ले जायेगा। निर्णय तुरन्त करना था, इसलिए बिना और सोचे मैं रेत पर बैठ कर नीचे तट की तरफ़ फिसल गया। पर तट पर पहुँच कर फिर कुछ क्षण बढ़ते अँधेरे की बात भूला रहा। कारण था तट की रेत। यूँ पहले भी समुद्र-तट पर कई-कई रंगों की रेत देखी थी—सुरमई, खाकी, पीली और लाल। मगर जैसे रंग उस रेत में थे, वैसे मैंने पहले कभी कहीं की रेत में नहीं देखे थे।

कितने ही अनाम रंग थे वे, एक-एक इंच पर एक दूसरे से अलग........ और एक-एक रंग कई-कई रंगों की झलक लिये हुए। काली घटा और घनी लाल आँधी को मिलाकर रेत के आकार में ढाल देने से रंगों के जितनी तरह के अलग-अलग सम्मिश्रण पाये जा सकते थे, वे सब वहाँ थे—और उनके अतिरिक्त भी बहुत-से रंग थे। मैंने कई अलग-अलग रंगों की रेत को हाथ में लेकर देखा और मसल कर नीचे गिर जाने दिया। जिन रंगों को हाथों से नहीं छू सका, उन्हें पैरों से मसल दिया। मन था कि किसी तरह हर रंग की थोड़ी-थोड़ी रेत अपने पास रख लूँ। पर उसका कोई उपाय नहीं था। यह सोच कर कि फिर किसी दिन आकर उस रेत को बटोरूँगा, मैं उदास मन से वहाँ से आगे चल दिया।

समुद्र में पानी बढ़ रहा था। तट की चौड़ाई धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। एक लहर मेरे पैरों को भिगो गयी, तो सहसा मुझे खतरे का एहसास हुआ। मैं जल्दी-जल्दी चलने लगा। तट का सिर्फ़ तीन-तीन चार-चार फ़ुट हिस्सा पानी से बाहर था। लग रहा था कि जल्दी ही पानी उसे भी अपने अन्दर समा लेगा। एक बार सोचा कि खड़ी रेत से होकर फिर ऊपर चला जाऊँ। पर वह स्याह पड़ती रेत इस तरह दीवार की तरह उठी थी कि उस रास्ते ऊपर जाने की कोशिश करना ही बेकार था। मेरे मन में खतरा बढ़ गया। मैं दौड़ने लगा। दो-एक और लहरें पैरों के नीचे तक आकर लौट गयीं। मैंने जूता उतारकर हाथ में ले लिया। एक ऊँची लहर से बच कर इस तरह दौड़ा जैसे सचमुच वह मुझे अपनी लपेट में लेने आ रही हो। सामने एक ऊँची चट्टान थी। वक़्त पर अपने को सँभालने की कोशिश की, फिर भी उससे टकरा गया। बाँहों पर हलकी खरोंच आ गयी, पर ज़्यादा चोट नहीं लगी। चट्टान पानी के अन्दर तक चली गयी थी—उसे बचाकर आगे जाने के लिए पानी में उतरना आवश्यक था। पर उस समय पानी की तरफ़ पाँव बढ़ाने का मेरा साहस नहीं हुआ।

कि किसी भी एक क्षण के लिए उसे एक नाम दे सकना असम्भव था। सूर्य का गोला जैसे एक बेबसी में पानी के लावे में डूबता जा रहा था। धीरे-धीरे वह पूरा डूब गया और कुछ क्षण पहले जहाँ सोना बह रहा था, वहाँ अब लहू बहता नज़र आने लगा। कुछ और क्षण बीतने पर वह लहू भी धीरे-धीरे बैंजनी और बैंजनी से काला पड़ गया। मैंने फिर एक बार मुड़ कर दायीं तरफ़ पीछे देख लिया। नारियलों की टहनियाँ उसी तरह हवा में ऊपर उठी थीं, हवा उसी तरह गूँज रही थी, पर पूरे दृश्यपट पर स्याही फैल गयी थी। एक दूसरे से दूर खड़े झुरमुट, स्याह पड़कर, जैसे लगातार सिर धुन रहे थे और हाथ-पैर पटक रहे थे। मैं अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और अपनी मुट्ठियाँ भींचता-खोलता कभी उस तरफ़ और कभी समुद्र की तरफ देखता रहा।

अचानक खयाल आया कि मुझे वहाँ से लौटकर भी जाना है। इस खयाल से ही शरीर में कँपकँपी भर गयी। दूर सैण्डहिल की तरफ़ देखा। वहाँ स्याही में डूबे कुछ धुँधले रंग हिलते नजर आ रहे थे। मैंने रंगों को पहचानने की कोशिश की, पर उतनी दूर से आकृतियों को अलग-अलग कर सकना सम्भव नहीं था। मेरे और उन रंगों के बीच स्याह पड़ती रेत के कितने ही टीले थे। मन में डर समाने लगा कि क्या अँधेरा होने से पहले मैं उन सब टीलों को पार करके जा सकूँगा ? कुछ क़दम उस तरफ़ बढ़ा भी। पर लगा कि नहीं। उस रास्ते से जाऊँगा, तो शायद रेत में ही भटकता रह जाऊँगा। इसलिए सोचा बेहतर है नीचे समुद्र-तट पर उतर जाऊँ—तट का रास्ता निश्चित रूप से केप होटल के सामने तक ले जायेगा। निर्णय तुरन्त करना था, इसलिए बिना और सोचे मैं रेत पर बैठ कर नीचे तट की तरफ़ फिसल गया। पर तट पर पहुँच कर फिर कुछ क्षण बढ़ते अँधेरे की बात भूला रहा। कारण था तट की रेत। यूँ पहले भी समुद्र-तट पर कई-कई रंगों की रेत देखी थी—सुरमई, ख़ाकी, पीली और लाल। मगर जैसे रंग उस रेत में थे, वैसे मैंने पहले कभी कहीं की रेत में नहीं देखे थे।

कितने ही अनाम रंग थे वे, एक-एक इंच पर एक दूसरे से अलग........ और एक-एक रंग कई-कई रंगों की झलक लिये हुए। काली घटा और घनी लाल आँधी को मिलाकर रेत के आकार में ढाल देने से रंगों के जितनी तरह के अलग-अलग सम्मिश्रण पाये जा सकते थे, वे सब वहाँ थे—और उनके अतिरिक्त भी बहुत-से रंग थे। मैंने कई अलग-अलग रंगों की रेत को हाथ में लेकर देखा और मसल कर नीचे गिर जाने दिया। जिन रंगों को हाथों से नहीं छू सका, उन्हें पैरों से मसल दिया। मन था कि किसी तरह हर रंग की थोड़ी-थोड़ी रेत अपने पास रख लूँ। पर उसका कोई उपाय नहीं था। यह सोच कर कि फिर किसी दिन आकर उस रेत को बटोरूँगा, मैं उदास मन से वहाँ से आगे चल दिया।

समुद्र में पानी बढ़ रहा था। तट की चौड़ाई धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। एक लहर मेरे पैरों को भिगो गयी, तो सहसा मुझे खतरे का एहसास हुआ। मैं जल्दी-जल्दी चलने लगा। तट का सिर्फ़ तीन-तीन चार-चार फ़ुट हिस्सा पानी से बाहर था। लग रहा था कि जल्दी ही पानी उसे भी अपने अन्दर समा लेगा। एक बार सोचा कि खड़ी रेत से होकर फिर ऊपर चला जाऊँ। पर वह स्याह पड़ती रेत इस तरह दीवार की तरह उठी थी कि उस रास्ते ऊपर जाने की कोशिश करना ही बेकार था। मेरे मन में खतरा बढ़ गया। मैं दौड़ने लगा। दो-एक और लहरें पैरों के नीचे तक आकर लौट गयीं। मैंने जूता उतारकर हाथ में ले लिया। एक ऊँची लहर से बच कर इस तरह दौड़ा जैसे सचमुच वह मुझे अपनी लपेट में लेने आ रही हो। सामने एक ऊँची चट्टान थी। वक़्त पर अपने को सँभालने की कोशिश की, फिर भी उससे टकरा गया। बाँहों पर हलकी खरोंच आ गयी, पर ज़्यादा चोट नहीं लगी। चट्टान पानी के अन्दर तक चली गयी थी—उसे बचाकर आगे जाने के लिए पानी में उतरना आवश्यक था। पर उस समय पानी की तरफ़ पाँव बढ़ाने का मेरा साहस नहीं हुआ।

मैं चट्टान की नोकों पर पैर रखता किसी तरह उसके ऊपर पहुँच गया। सोचा नीचे खड़े रहने की अपेक्षा वह अधिक सुरक्षित होगा। पर ऊपर पहुँच कर लगा जैसे मेरे साथ एक मज़ाक़ किया गया हो। चट्टान के उस तरफ़ तट का खुला फैलाव था—लगभग सौ फ़ुट का। कितने ही लोग वहाँ टहल रहे थे। ऊपर सड़क पर जाने के लिए वहाँ से रास्ता भी बना था। मन से डर निकल जाने से मुझे अपने-आप काफ़ी हलका लगा और मैं चट्टान से नीचे कूद गया।

रात। केप होटल का लॉन। अँधेरे में हिन्द महासागर को काटती हुई कुछ स्याह लकीरें—एक पौधे की टहनियाँ। नीचे सड़क पर टार्च जलाता-बुझाता एक आदमी। दक्षिण-पूर्व के क्षितिज में एक जहाज की मद्धिम-सी रोशनी।

मन बहुत बेचैन था—बिना पूरी तरह भीगे सूखती मिट्टी की तरह। जगह मुझे इतनी अच्छी लगी थी कि मन था अभी कई दिन, कई सप्ताह, वहाँ रहूँ। पर अपने भुलक्कड़पन की वजह से एक ऐसी हिमाक़त कर आया था कि लग रहा था वहाँ से तुरन्त लौट जाना पड़ेगा। अपना सूटकेस खोलने पर पता चला था कि कनानोर में सत्रह दिन रह कर जो अस्सी-नब्बे पन्ने लिखे थे, वे वहीं मेज की दराज में छोड़ आया हूँ। अब मुझे दो में से एक चुनना था। एक तरफ़ था कन्याकुमारी का सूर्यास्त, समुद्रतट और वहाँ की रेत। दूसरी तरफ़ अपने हाथ के लिखे काग़ज जो शायद अब भी सेवाय होटल की एक दराज में बन्द थे। मैं देर तक बैठा सामने देखता रहा—जैसे कि पौधे की टहनियों या उनके हाशिये में बन्द महासागर के पानी से मुझे अपनी समस्या का हल मिल सकता है।

कुछ देर में एक गीत का स्वर सुनायी देने लगा जो धीरे-धीरे पास आता गया। एक कान्वेन्ट की बस होटल के कम्पाउण्ड में आकर रुक गयी। बस में बैठी लड़कियाँ अंग्रेजी में एक गीत गा रही थीं जिसमें समुद्र के सितारे को सम्बोधित किया गया था। उस गीत को

सुनते हुए और दूर जहाज की रोशनी के ऊपर एक चमकते सितारे को देखते हुए मन और उदास होने लगा। गहरी साँझ के सुरमई रंग में रंगी वह आवाज मन की गहराई में किसी कोमल रोयें को हलके-हलके सहला रही थी। लग रहा था कि उस रोयें की ज़िद शायद मुझे वहाँ से जाने नहीं देगी। लेकिन उससे भी जिद्दी एक और रोयाँ था —दिमाग के किसी कोने में अटका—जो सुबह वहाँ से जाने वाली बसों का टाइम टेबिल मुझे बता रहा था। गीत के स्वरों की प्रतिक्रिया के साथ टाइम टेबल के हिन्दसे जुड़ते जा रहे थे—पहली बस सात पन्द्रह, दूसरी आठ पैंतिस, तीसरी·······। थोड़ी देर में बस लौट गयी गीत के स्वर विलीन हो गये और मन में केवल हिंदसों की चर्खी चलती रह गयी।

सूर्योदय। हम आठ आदमी 'विवेकानन्द चट्टान' पर बैठे थे। चट्टान तट से सौ-सवा-सौ गज आगे समुद्र के बीच जाकर है—वहाँ जहाँ बंगाल की खाड़ी की भौगोलिक सीमा समाप्त होती है। मेरे अलावा तीन कन्याकुमारी के बेकार नवयुवक थे जिनमें से एक ग्रेजुएट था। चार मल्लाह थे जो एक छोटी-सी मछुआ नाव में हमें वहाँ लाये थे। नाव क्या थी, रबड़-पेड़ के तीन तनों को साथ जोड़ लिया गया था, बस। नीचे की नुकीली चट्टानों और ऊपर की ऊँची-ऊँची लहरों से बचाते हुए मल्लाह नाव को उस तरफ़ ला रहे थे, तो मैंने आसमान की तरफ़ देखते हुए उतनी देर अपनी चेतना को स्थगित रखने की चेष्टा की थी, अपने अन्दर के डर को दिखावटी उदासीनता से ढक रखना चाहा था। पर जब चट्टान पर पहुँच गये, तो डर मेरी टाँगों में उतर गया क्योंकि वहाँ बैठे हुए भी वे हलके-हलके काँप रही थीं।

ग्रेजुएट नवयुवक मुझे बता रहा था कि कन्या-कुमारी की आठ हजार की आबादी में कम से कम चार-पाँच सौ शिक्षित नवयुवक ऐसे हैं जो बेकार हैं। उनमें से सौ के लगभग ग्रेजुएट हैं। उनका मुख्य धन्धा है नौकरियों के लिए अर्जियाँ देना और बैठ कर आपस में बहस करना।

वह खुद वहाँ फ़ोटो-एल्बम बेचता था। दूसरे नवयुवक भी उसी तरह के छोटे-मोटे काम करते थे। "हम लोग सीपियों का गूदा खाते हैं और दार्शनिक सिद्धान्तों पर बहस करते हैं," वह कह रहा था। "इस चट्टान से इतनी प्रेरणा तो हमें मिलती ही है।" मुझे दिखाने के लिए उसने वहीं से एक सीपी लेकर उसे तोड़ा और उसका गूदा मुँह में डाल लिया।

पानी और आकाश में तरह-तरह के रंग झिलमिलाकर, छोटे-छोटे द्वीपों की तरह समुद्र में बिखरी स्याह चट्टानों की ओट से सूर्य उदित हो रहा था। घाट पर बहुत से लोग उगते सूर्य को अर्घ्य देने के लिए एकत्रित थे। घाट से थोड़ा हटकर गवर्नमेन्ट गेस्ट हाउस के बैरे सरकारी मेहमानों को सूर्योदय के समय की काफ़ी पिला रहे थे। दो स्थानीय नवयुवतियाँ उन्हें अपनी टोकरियों से शंख और मालाएँ दिखला रही थीं। वे लोग दोनों काम साथ-साथ कर रहे थे—मालाओं का मोल-तोल और अपने बाइनाक्युलर्ज से सूर्य-दर्शन। मेरा साथी अब मुहल्ले-मुहल्ले के हिसाब से मुझे बेकारी के आँकड़े बता रहा था। बहुत-से कडल-काक हमारे आस-पास तैर रहे थे—वहाँ की बेकारी की समस्या और सूर्योदय की विशेषता, इन दोनों से बे-लाग।

मेरे साथियों का कहना था कि लौटते हुए नाव को घाट की तरफ़ से घुमाकर लायेंगे, हालाँकि मल्लाह उस तूफ़ान में उधर जाने के हक़ में नहीं थे। बहुत कहने पर मल्लाह किसी तरह राजी हो गये और नाव को घाट की तरफ़ ले चले। नाव विवेकानन्द चट्टान के ऊपर से घूमकर लहरों के थपेड़े खाती उस तरफ़ बढ़ने लगी। वह रास्ता सचमुच बहुत खतरनाक था—जिस रास्ते से हम आये थे, उससे कहीं ज्यादा। नाव इस तरह लहरों के ऊपर उठ जाती थी कि लगता था नीचे आने तक जरूर उलट जायेगी। फिर भी हम घाट के बहुत क़रीब पहुँच गये। ग्रेजुएट नवयुवक घाट से आगे की चट्टान की तरफ़ इशारा

करके कह रहा था, "यहाँ आत्महत्याएँ बहुत होती हैं।"

मैंने सरसरी तौर पर आश्चर्य प्रकट कर दिया। मेरा ध्यान उसकी बात में नहीं था। मैं आँखों से तय करने की कोशिश कर रहा था कि घाट और नाव के बीच अब कितना फासला बाकी है।

एक लहर ने नाव को इस तरह धकेल दिया कि मुश्किल से वह उलटते-उलटते बची। आगे तीन-चार चट्टानों के बीच एक भँवर पड़ रहा था। नाव अचानक एक तरफ़ से भँवर में दाखिल हुई और दूसरी तरफ़ से निकल आयी। इससे पहले कि मल्लाह उसे सँभाल पाते, वह फिर उसी तरह भँवर में दाखिल होकर घूम गयी। मुझे कुछ क्षणों के लिए भँवर और उससे घूमती नाव के सिवा किसी चीज की चेतना नहीं रही। चेतना हुई जब भँवर में तीन-चार चक्कर खा लेने के बाद नाव किसी तरह उससे बाहर निकल आयी। यह अपने आप या मल्लाहों की कोशिश से, मैं नहीं कह सकता।

पर तब तक मैंने उस चट्टान की तरफ़ ध्यान से नहीं देखा जब तक किनारे के बहुत पास नहीं पहुँच गये। यह भी वहाँ पहुँच कर जाना कि घाट की तरफ़ से आने का इरादा छोड़कर मल्लाह उसी रास्ते से नाव को वापस लाये हैं जिस रास्ते से पहले ले गये थे।

* * *

कन्याकुमारी के मन्दिर में पूजा की घंटियाँ बज रही थीं। भक्तों की एक मण्डली अन्दर जाने से पहले मन्दिर की दीवार के पास रुककर उसे प्रणाम कर रही थी। सरकारी मेहमान गेस्ट हाउस की तरफ़ लौट रहे थे। हमारी नाव और किनारे के बीच हलकी धूप में कई एक नावों के पाल और कडल-काकों के पंख एक से चमक रहे थे। मैं मन में बसों का टाइम-टेबल दोहरा रहा था तीसरी बस नौ चालिस पर, चौथी........।

—मोहन राकेश

प्रश्न-अभ्यास

१. भारतीय राष्ट्रीय जीवन में कन्याकुमारी का क्या महत्त्व है ? संक्षेप में उत्तर दीजिए ।
२. कन्याकुमारी के प्राकृतिक सौन्दर्य की कुछ विशेषताएँ बताइए ।
३. हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों को ग्रहण करना कहाँ तक उचित है ? प्रस्तुत पाठ में आये हुए अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का औचित्य स्पष्ट कीजिए ।
४. 'यात्रावृत्त' से आप क्या समझते हैं ? इसे स्वतंत्र गद्य-विधा मानना कहाँ तक उचित है ?
५. निम्नलिखित अवतरणों की व्याख्या कीजिए—
   (क) 'सूर्य का गोला·········असम्भव था ।'
   (ख) 'एक दूसरे·········देखता रहा ।'
६. समुद्र की किस वस्तु ने लेखक को सबसे अधिक आकृष्ट किया था और क्यों ?
७. समुद्र की बढ़ती हुई लहरों से लेखक क्यों चिन्तित हो गया था ?
८. मोहन राकेश की गद्य-शैली की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

———

विद्यानिवास मिश्र (सन् १९२६)

डॉ० विद्यानिवास मिश्र का जन्म गोरखपुर जिले के पकड़डीहा गाँव में १४ जनवरी सन् १९२६ को हुआ था। प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर में प्राप्त करके इन्होंने इलाहाबाद में उच्च अध्ययन किया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। **पाणिनीय व्याकरण की विश्लेषण पद्धति** नामक शोध-प्रबन्ध पर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इनको पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। लगभग दस वर्षों तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रेडियो, विन्ध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के सूचना विभागों में नौकरी करने के बाद वे गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हुए और थोड़े दिनों बाद अमरीका चले गये और वहाँ कैलोफोर्निया विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य एवं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालय, में हिन्दी साहित्य का अध्यापन किया। इस समय वे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के 'भाषा विज्ञान एवं आधुनिक भाषा विभाग' के आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं।

मिश्रजी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् तो हैं ही, हिन्दी साहित्य के समर्थ लेखक भी हैं। हिन्दी के वर्तमान ललित निबन्धकारों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपने हिन्दी ललित निबन्धों को नवीन सांस्कृतिक भावभूमि प्रदान की है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी एवं भाषा विज्ञान का उच्च स्तरीय ज्ञान पुष्ट बनकर इनका संस्कार बन गया है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आप भी संस्कृत साहित्य को वर्तमान जीवन के परिवेश में देखते हैं और अपने निबन्धों को ज्ञान की उष्मा से झुलसाने की अपेक्षा सांस्कृतिक तरलता से सरस बना देते हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

ललित निबन्ध संग्रह—१. **छितवन की छाँहें**, २. **कदम की फूली डाल**, ३. **तुम चंदन हम पानी**, ४. **आँगन का पंछी और बनजारा मन**, ५. **मैंने सिल पहुँचाई**, ६. **वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं**, ७. **मेरे राम का मुकुट भीग रहा है**।

आलोचना—८. साहित्य की चेतना।

अन्य—९. हिन्दी की शब्दसम्पदा, १०. पाणिनीय व्यकारण की विश्लेषण पद्धति, ११. रीति विज्ञान।

मिश्रजी के निबन्ध व्यक्तिपरक हैं। इनके निबन्धों में लोकजीवन एवं ग्रामीण समाज मुखरित हो उठा है। प्राचीन भारतीय सारस्वत परम्परा का निर्वाह करते हुए मिश्रजी अपने निबन्धों के पाठकों को भोजपुरी लोकसाहित्य की सरसता का पान भी करा देते हैं। किसी भी प्रसंग को लेकर वे उसे ऐतिहासिक, पौराणिक या साहित्यिक संदर्भ से युक्त कर देते हैं, और फिर उसे लोक-जीवन से सम्बद्ध कर देते हैं। इस प्रकार इनके निबन्धों में शास्त्रज्ञान एवं लोक-जीवन का मणिकांचन संयोग विद्यमान है।

भाषा की दृष्टि से इनके निबन्धों में खड़ीबोली के शब्दों के साथ-साथ कहीं-कहीं भोजपुरी के ग्रामीण शब्द आ गये हैं। तत्सम शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते हुए वे यत्र-तत्र बोलियों के भी शब्द प्रयुक्त कर देते हैं। किन्तु यह सब कार्य वे भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए ही करते दिखायी पड़ते हैं। भाषा की ताजगी उनके निबन्धों में सर्वत्र विद्यमान है।

इनको कवि-हृदय मिला हुआ है अतः शैली में भावात्मकता एवं सरसता स्वाभाविक ही है। ललित निबन्धों की शैली में वे सिद्धहस्त हैं। शैली में काव्य के गुण विद्यमान हैं और निबन्धों को पढ़ने में आनन्द आता है। इनकी शैली में कहीं-कहीं व्यंग्य का तीखापन भी विद्यमान है।

प्रस्तुत निबन्ध में हिमालय के सम्बन्ध में पौराणिक कथा का रहस्य बताते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि हिमालय का गौरव नगाधिराज होने के कारण नहीं वरन् गंगा जैसी नदियों को जन्म देने के कारण है। हिमालय भारत का कुलगुरु है। इस निबन्ध में लेखक ने पाठकों को प्रेरणा दी है कि हम उन आदर्शों को अपनाकर बड़े बनें जिन आदर्शों का देवता हिमालय है। निबन्ध में प्रसाद गुण के साथ-साथ ओज की छटा भी विद्यमान है।

———

हिमालय

हिमालय कहने से भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का ही केवल स्मरण नहीं होता भारत की पवित्रता का, ऊँचाई का भी बोध होता है। वह पूर्व और पश्चिम समुद्र को गहानेवाला पृथ्वी का मानदण्ड मात्र नहीं है। यह है देवतात्मा। उसकी आत्मा देवता है और वह देवताओं की आत्मा है।

हिमालय इस वसुन्धरा का प्रिय वत्स है। पुराणों में कहानी आती है कि पृथ्वी बंजर होने लगी थी, प्रजा दुःख से पीड़ित होने लगी थी, देवताओं को यज्ञ भाग मिलना कठिन होने लगा था तब पृथुराजा ने पृथ्वी को डराया-धमकाया। पृथ्वी ने कहा—मैंने अनाचार बढ़ता हुआ देखकर रत्न, औषधियाँ और हरियाली अपने भीतर छिपा ली है। मैं गाय का रूप धारण करूँगी और तुम मेरे लिए उपयुक्त बछड़ा ढूँढ़ो। मैं यह सारी सामग्री दूध के रूप में प्रस्तुत कर दूँगी। पृथु ने पर्वतों में नये पर्वत हिमालय को बछड़ा बनाया और हिमालय के वात्सल्य से पिन्हाकर धरती ने रस, औषधियों से और रत्नों से मटके के मटके भर दिये। सृष्टि की यह कहानी हिमालय के आविर्भाव के बाद एक नये देश और एक नयी संस्कृति के उत्थान की कहानी है। हिमालय उस संस्कृति का अग्रदूत है जो आत्मदान में विश्वास करती है जो देव-शक्तियों को संचालित करने के लिए तप और एकनिष्ठ प्रेम में विश्वास करती है।

हिमालय का बड़प्पन केवल नगाधिराज होने के कारण नहीं है, ऊँची चोटियों के ऊपर पड़ने वाली प्रकाश की आभा के कारण नहीं है, उसका बड़प्पन गंगा जैसी नदियों को जन्म देने के कारण

है। इन नदियों के माध्यम से हिमालय अपनी उदारता, शुचिता और समृद्धि मुक्तहस्त लुटा रहा है। ऋग्वेद में इसलिए स्रष्टा के महत्त्व (महिमा) से हिमालय को उद्भूत बतलाया गया है।

किन्तु विष्णु पुराण में विष्णु ने स्वयं कहा है कि मैंने पर्वतराज हिमालय की सृष्टि यज्ञ के साधन के लिए की है। हिमालय भौतिक रूप में ही नहीं आध्यात्मिक रूप में भी यज्ञ की अंगभूत सामग्री प्रस्तुत करनेवाला एकमात्र स्रोत है। सोमलता जैसी औषधि तो प्रतीक मात्र है। अपने को निष्पीड़ित करके, ममता को उत्सर्ग करके एक व्यापक भारत के चक्र में अपने को स्थापित करने का यत्न ही तो यज्ञ है और हिमालय साक्षात् यज्ञ रूप है। यह इसलिए इस जगत् का प्रतिनिधि है।

हिमालय पार्थिव समृद्धि का दर्पोन्नत किरीट है, उसका मस्तक जैसा है, ललाट आभा से दीप्त है, हृदय रस से आप्यायित है और गैरिक रागों से अनुरंजित है। भुजाएँ देवदारुओं को सिहराने वाली गंगा के जलकणों से, शीतल बयार के संस्पर्श से पुलकित हैं, उसकी नाभि में हंसों का प्रिय मानसरोवर है, उसकी करधनी में घंटियों की तरह झरनों का कलरव है, चरणों में मृगी के उच्छल और विश्वस्त विहार करने वाले तपोवन हैं। उसमें देवता रहते हैं क्यों देवताओं के देवता शंकर के तप का क्षेत्र उसी का एक कोना कैलाश है, उसमें यक्ष, गन्धर्व बसते हैं, क्योंकि हिमालय की गुफाओं में निभृत विलास का सुख उन्हें प्राप्त है। इन गुफाओं के ऊपर अपने आप बादलों के परदे टँगे हुए हैं, गन्धर्वों के गीत को दान देने के लिए ही हिमालय की इन गुफाओं से आनेवाली बयार है, जो बाँसों के वन में शब्द भरती चली जाती है। सिद्ध और साधक दोनों को यहाँ प्रेरणा समान रूप से मिलती है। सिद्धों को प्रेरणा मिलती है नर-नारायण से जो भारतवर्ष के अधिष्ठाता के रूप में बदरिकाश्रम में तप कर रहे हैं। नर और नारायण दोनों का तप करना है, ईश्वर होकर कोई इस कर्मभूमि में कर्म से विलग नहीं

होता। ईश्वर की सार्थकता है लोकभावित होकर स्वेच्छा से कर्म करने में। साधक के लिए प्रेरणा है पवित्र वातावरण में, विराटता के बोध में, शिखरों की शुभ्रता के प्रकाश में वन्य किरातों की सहज और ऋजु दृष्टि में। हिमालय इतना उदार है कि वह अंधकार को भी शरण देता है। आज भी अंधकार की एक बहुत बड़ी शक्ति को शरण दिए हुए है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उसके कमल को खिलानेवाली किरणें भी उर्ध्वमुखी होती हैं। उसके सौन्दर्य और सौरभ को पाने की क्षमता उसी में होती है जो उर्ध्वमुखी है और जिसके आदर्श ऊँचे हैं। उसके कमल केवल सप्तर्षियों के ही हाथों चुने जा सकते हैं।

हिमालय इस देश की जगद्धात्री शक्ति का पिता है, इसीलिए इस देश का वह कुलगुरु है। ज्ञान, योग और तप के प्रतिमान शिव को ऐश्वर्य जिस शक्ति के कारण मिलता है, वह शक्ति हिमालय की दुहिता है, पार्थिव शक्ति का ही दूसरा पर्याय है पार्वती—और उस पार्वती से अविभक्त होकर शिव इस देश के जीवन-दर्शन के साक्षात् प्रतीक बन गये हैं। यह जीवन-दर्शन केवल देवताओं के सेनानी कुमार को जन्म देता है, असुरों की शक्ति संहृत करने वाली अग्नि को न केवल जन्म देता है बल्कि समस्त विद्याओं, कलाओं और संस्कृति की विभिन्न परम्पराओं को जन्म देता है। भारतीय संस्कृति अखंड जीवन में विश्वास रखती है, उसमें निषेध नहीं है, उसमें गजाजिन भी दुकूल बन जाता है, भस्म भी चन्दन बन जाता है। हिमालय का स्मरण भारत की इस समग्र दृष्टि का स्मरण है क्योंकि यह दृष्टि हिमालय के वात्सल्य से उभरी हुई दृष्टि है।

भारतीय साहित्य में जहाँ कहीं विभिन्न गुणों के लिए उपमान ढूंढ़े गये हैं वहाँ गम्भीरता के लिए समुद्र और धैर्य के लिए हिमवान उपमान के रूप में बार-बार दोहराये गये हैं।

इस भक्तिविगलित भाव को जिन लोगों ने भारतवर्ष की दुर्बलता

समझा है और जिन्होंने किरातों को आश्रय देने वाले हिमालय को विजेय समझा है, वे भूल जाते हैं कि भारतवर्ष का शौर्य रक्त-पिपासा नहीं है, यह भेड़िये की भूख नहीं है, यह झूठमूठ बादल को गरजते देखकर शेर के गरज उठने का उत्साह भी नहीं है, यह उदात्त गुणों की कसौटी है, दूसरों को पराजित करने में नहीं। पराजित करके भी वह उसका नाश नहीं करता। उन्हें उखाड़कर फिर से नयी जमीन पर आरोपित करने में विश्वास करता है, जिससे उसके फल खट्टे न होकर मीठे हों, वह शान्त और धैर्यशाली चित्र का उन्नयन है जो अपना प्रदर्शन नहीं करता, समय आने पर अत्यन्त सहज भाव से पराक्रम का परिचय देता है, वह ऐसी शक्ति है जो शिव के साथ जुड़ी हुई है। हिमालय में अन्धकार ने डेरा डाला है, उसकी उज्ज्वलता पर रक्त की धाराएँ उभरी हैं, उसके तपोवन में किरातों की हिंसा मदमत्त जंगली हाथी की तरह है, पर हिमालय भौगोलिक सीमामात्र नहीं है, यह इस देश के वैचारिक धारा का राशिभूत स्रोत है, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता। जिस हिमालय ने तारकासुर से आक्रान्त देवताओं को आश्वासन दिया था वही हिमालय आज भी हमें आश्वस्त कर सकता है बशर्ते कि हम उस शक्ति को वहन करने में समर्थ हो सकें, जो कठिन संकल्प, ग्लानि के प्रखर बोध और सर्वस्व त्याग से ही पूर्णकाम हो सकती है।

हिमालय वही है, गंगा के प्रवाह से प्रक्षिप्त बहने वाली औषधियों से प्राकारित, मणियों की सहज मालाओं से मण्डित। उसके अधर वैसे ही लाल हैं, उसकी बाहें देवदारु सी लम्बी हैं, उसकी छाती चट्टान-सी कड़ी है।

पर हम कुछ छोटे हो गये हैं। अपने आदर्शों के नारे लगाते-लगाते हम उनके अयोग्य हो गये हैं। हिमालय उन आदर्शों का देवता है, उसको अपने जीवन में जगाकर ही हम पराजय की ग्लानि को धो सकेंगे।

—विद्यानिवास मिश्र

प्रश्न-अभ्यास

१. पुराणों में हिमालय के आविर्भाव के विषय में कौन सी कहानी दी गयी है ?

२. 'हिमालय उस संस्कृति का अग्रदूत है, जो आत्मदान में विश्वास करती है।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषताओं को बताइए।

३. हिमालय की विशेषताओं का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

४. हिमालय के लिए लेखक ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उनको चुनिए और उनके अर्थों एवं महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

५. 'सिद्ध' और 'साधक' दोनों को समान रूप से प्रेरणा देने में हिमालय किस प्रकार समर्थ है।

६. लेखक ने भारत की किन-किन विशेषताओं की ओर संकेत किया है ? दस वाक्यों में उन विशेषताओं को लिखिए।

७. भारतीय संस्कृति में कितने पुराणों की महत्ता बतायी गयी है। प्रत्येक पुराण के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कीजिए तथा मुख्य-मुख्य पुराणों की महत्ता के सम्बन्ध में पाँच-पाँच वाक्य लिखिए।

८. प्रत्येक पर परिचयात्मक टिप्पणी लिखिए :
राजा पृथु, सोमलता, कैलाश, गन्धर्व, सिद्ध, मानसरोवर।

९. व्याख्या कीजिए :—
(१) 'वह पूर्व और पश्चिम समुद्र को गहानेवाला पृथ्वी का मानदण्ड मात्र नहीं है। यह है देवतात्मा।'
(२) 'अपने को निष्पीड़ित करके, ममता को उत्सर्ग करके एक व्यापक भारत के चक्र में अपने को स्थापित करने का यत्न ही तो यज्ञ है और हिमालय साक्षात् यज्ञ-रूप है।'

१०. हिमालय की उन विशेषताओं पर एक लघु निबन्ध लिखिए जो आपको आकर्षित करती हैं।

११. इस पाठ की शैलीगत विशेषताएँ बताइए।

———
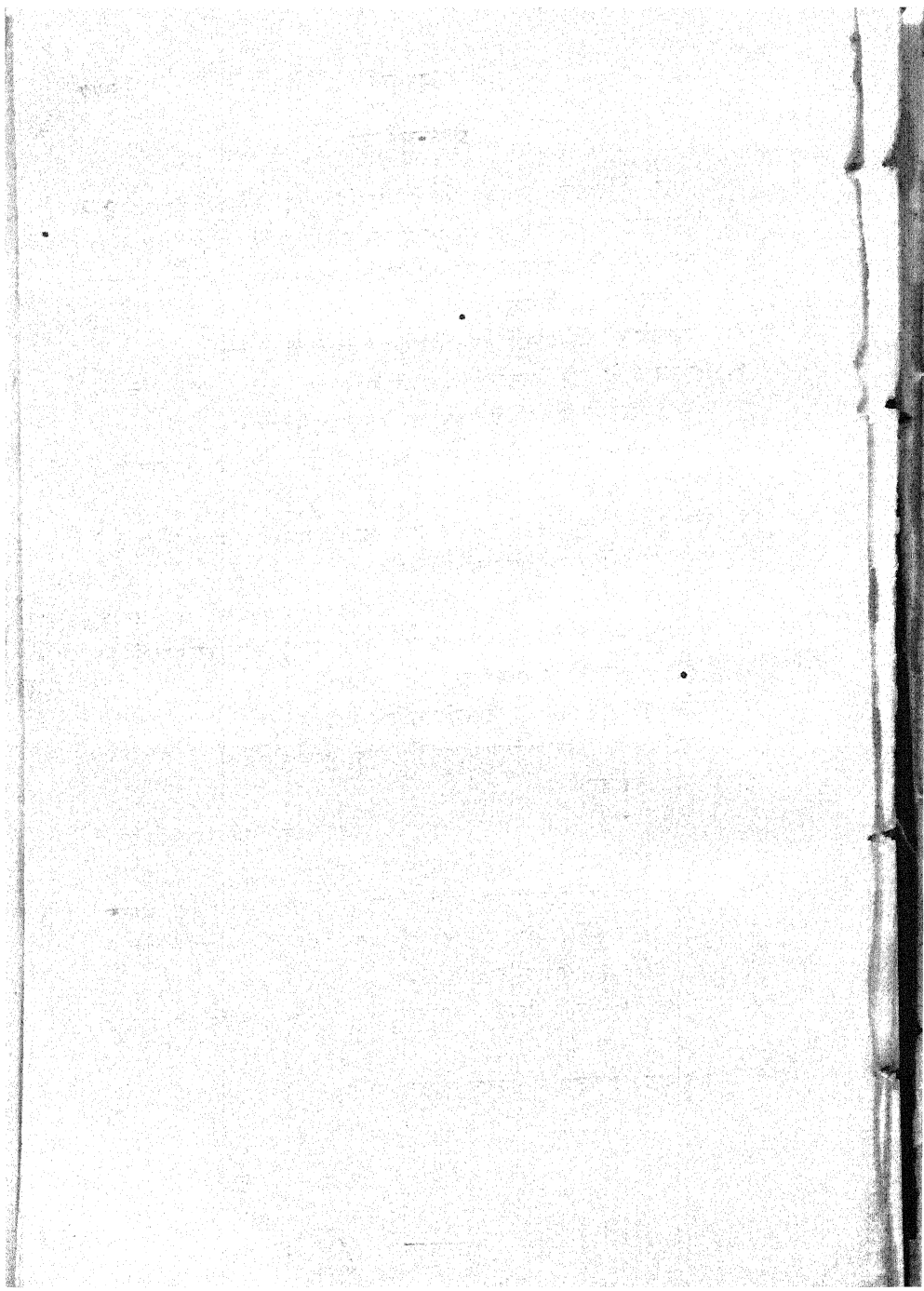
टिप्पणियाँ

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है ?

मसल—कहावत। कतवार—कूड़ा। ताजी—अरबी घोड़ा। मर्दुमशुमारी—जन-गणना। तिहवार—त्योहार, पर्व। फलानी—फलाँ, अमुक, निर्दिष्ट व्यक्ति या वस्तु। आयुष्य—आयु। गुलिस्ताँ—उद्यान, वाटिका (यहाँ एक पुस्तक जिसमें उर्दू की श्रेष्ठ कविताएँ संगृहीत थीं)। मतमतान्तर—धार्मिक मतभेद। लंकलाट—एक महीन सूती कपड़ा (लांग क्लाथ का बिगड़ा हुआ रूप)। अंगा—अँगरखा, कुर्ता।

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

सप्तर्षि—सात ऋषियों गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि, के नाम पर सात तारों का मंडल। अंशुमाली—सूर्य। अवतीर्ण—उतरना। तिमिर—अन्धकार। पराभव—पराजित।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

आश्रम-चतुष्टय—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। अन्यान्य कलाओं—और-और कलाएँ जैसे चित्रकला, स्थापत्य कला, रंजनकला आदि। आदर्शात्मक-साम्य—आदर्शों में समता, लक्ष्यगत समानता। एकेश्वरवाद—"ईश्वर एक है" इस सिद्धान्त को मानने वाला, दार्शनिक वाद। ब्रह्मवाद—ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करने का सिद्धान्त अर्थात् यह मानना कि ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। ऋचाओं—ऋग्वेद के मंत्रों। परोक्ष—अलौकिक या अप्रत्यक्ष (संसार की नहीं प्रत्युत अन्य लोक की)। निसर्गसिद्ध—प्रकृति से प्राप्त। ऐहिक—लौकिक, सांसारिक। संश्लिष्ट—मिला-जुला। भिजई—भिगोई। गुरुडम—आचार्यत्व

(इसका प्रयोग अच्छे अर्थ में नहीं होता)। वसन्तश्री—वसन्त की शोभा। तत्सम्भव—उससे उत्पन्न। उद्रेक—अभिव्यक्ति, जाग्रत करना। पिंगल—छन्द शास्त्र।

आचरण की सभ्यता

ज्योतिष्मती—ज्योतिर्मयी, प्रकाशयुक्त। निघण्टु—वैदिक-शब्द-कोश। मानसोत्पन्न—मन से उत्पन्न। क्लेशातुर—दुःख से व्याकुल। उन्मदिष्णु—उन्माद युक्त, मतवाला। अश्रुतपूर्व—जो पहले न सुना गया हो। केशवचन्द्र सेन—(सन् १८३४-८४) ब्रह्म समाज के नेता। इन्होंने राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्म समाज का प्रभाव बढ़ाने में विशेष कार्य किया था। देवेन्द्र नाथ ठाकुर—ब्रह्म समाज के नेता (केशवचन्द्र सेन के सहयोगी)। अंजील—ईसाइयों का धर्मग्रन्थ। कारलायल—अंग्रेजी का प्रसिद्ध लेखक। (सन् १७९५-१८८१) अपने ऐतिहासिक निबन्धों के लिए प्रसिद्ध। रामरोला—व्यर्थ का शोरगुल। रसूल—ईश्वर का दूत। औदार्य—उदारता। शनैः-शनैः—क्रमशः, धीरे-धीरे। महाप्रभु चैतन्य—(सन् १४८६-१५३३) गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय या चैतन्य मत के प्रवर्त्तक। संभूत—उत्पन्न। पदार्थ-विद्या—पदार्थों का विवेचन करने वाली विद्या। अन्तर्वर्तिनी—भीतर स्थित। रेडियम—एक प्रकाशमय धातु। शीराजी—ईरान के प्रसिद्ध नगर शीराज का रहने वाला। काफिर—ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाला, नास्तिक। मोमिन—ईमानदार मुसलमान। त्रिपीठक (त्रिपिटक)—बौद्धों के मूल ग्रन्थ जो विनय, सुत्त और अभिधम्म तीन पिटकों (भागों) में विभक्त हैं। नेती—हठयोग की एक क्रिया, इसमें पेट में कपड़े की पतली पट्टी डालकर आँतें साफ करते हैं।

करुणा

सम्बन्ध-ज्ञान—कारण से कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान। कार्यकारण सम्बन्ध—कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। इसलिए दोनों में तात्त्विक सम्बन्ध है। परिज्ञान—पूर्णज्ञान। सात्त्विकता—साधु स्वभाव, शुद्ध प्रकृति। निवृत्ति—छुटकारा। सम्भाव्य—संभावित, कल्पित, भविष्य में घटित होने वाला।

दुःशीलता—दुराचार, बुरा आचरण। मनोवेग वर्जित—मनोवेगों को दबाने वाला। अन्तःकरण—भीतरी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। प्रवर्त्तक—लगाने वाला, प्रवृत्त करने वाला। ज्ञानवादी—संसार को ज्ञान दृष्टि से देखने वाला। आलम्बन —भाव का विषय, वह व्यक्ति या वस्तु जिसके प्रति भाव उत्पन्न होता है। प्रभावोत्पादक—मन को प्रभावित करने वाले। परिमिति—सीमा। अनुपयुक्तता—अनौचित्य। तत्परता—क्रियाशीलता। अनुसारी परिणाम—मनोवेग से उत्पन्न होने पर उसके अनुकूल आचरण करना। प्रतिकार—बदला, उचित क्षतिपूर्ति कराने वाला कार्य। विश्वात्मा—विश्वव्यापी, चेतन सत्ता।

शिक्षा का उद्देश्य

पुरुषार्थ—मनुष्य के जीवन का प्रधान उद्देश्य, वह वस्तु या प्रयोजन जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए मनुष्य को उद्योग करना चाहिए। पुरुषार्थ चार माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रतीयमान—जिससे प्रतीति हो रही हो, जान पड़ता हुआ, जो व्यंजना द्वारा प्रकट हो रहा हो। वर्णाश्रम—वर्ण और आश्रम। मार्क्सवाद—कार्ल मार्क्स के समाज-दर्शन पर आधारित समाज-सिद्धान्त। संश्रय—आधार, आश्रय। अविद्यावशात्—अज्ञान के कारण। आत्मसाक्षात्कार—आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान। दृश्यमान—जो देखा जा रहा हो। मुदिता—हर्ष, आनन्द, चित्त की वह अवस्था जिसमें दूसरे का सुख देखकर सुख होता है। परार्थ-साधन—परोपकार। निष्कामिता—मन में वासनाएँ या कामनाएँ न रहने की स्थिति। लोक-संग्रह—लोक कल्याण या जनता की सेवा। समष्टि—समग्रता, संपूर्णता। विरत करना—हटाना। अनसूया—दूसरे के गुणों में दोष ढूँढ़ने की वृत्ति का न होना। स्वैरिणी—स्वेच्छाचारिणी। ऐहिक—इस लोक से सम्बन्धित। आमुष्मिक—दूसरे लोक से सम्बन्ध रखने वाला। युगपत्—साथ-साथ। अभिभूत—वश में किया हुआ, आक्रान्त। आचारावलियाँ— आचरण के प्रकार, व्यवहार की विधियाँ। हमारे कर्त्तव्यों की डोर······पहुँचती है—हमें अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह अपने पूर्वजों से लेकर आने वाली पीढ़ियों तक करना चाहिए अर्थात् पूर्वजों के गुणों को ग्रहण और आने वाली संतान के लिए कर्त्तव्यों की प्रेरणा देनी चाहिए।

आनन्द की खोज, पागल पथिक

कलपते हुए—विलाप करते हुए, अन्तर्वेदना को शब्दों में व्यक्त करते हुए। आनन्द-कन्द-मूलक—आनन्द के भाण्डार को देने वाली। विश्ववल्लरी—संसार-रूपी लता। स्तब्ध—गतिहीन। ब्रह्माण्ड—सम्पूर्ण विश्व। अवाक्—वाणीरहित, मूक, आश्चर्य से चुप। विदीर्ण हृदय—टूटा, शोकग्रस्त। साख भर रहा है—गवाही दे रहा है। घटाकार—घड़े के आकार का। सखेद—दुःख अथवा विवशता के साथ। नव्यता—नवीनता। नितान्त—सर्वथा, पूर्णतः। राम-पोटरिया—पोटली के लिए लेखक द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्द अर्थात् पथिक का थोड़ा सा निजी सामान।

अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा

परिपाटी—पद्धति। जिज्ञासा—जानने की इच्छा। छः दर्शन—मीमांसा, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग। छः आस्तिक ऋषि—छः दर्शनों के रचयिता ईश्वरवादी ऋषि—जैमिनि, वादरायण, गौतम, कणाद, कपिल और पतंजलि। शकों-हूणों—भारतवर्ष के इतिहास में प्राचीनकालीन आक्रमणकर्ता। समुंदर के खारे पानी और हिन्दू धर्म में बैर—समुद्र यात्रा को हिन्दू-धर्म के विरुद्ध मानना। अन्योन्याश्रय—एक दूसरे पर निर्भर। नवीन संस्करण—आधुनिक रूप। दिवांध—दिन में भी अन्धे। निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः—जो सत-रज-तम (तीन गुणों) से रहित मार्ग पर विचरण करता है। (योगी या घुमक्कड़) उसके लिए न कोई नियम होता है और न कोई रोक। करतल भिक्षा तरुतल वास—हाथ में भिक्षा और वृक्ष के नीचे सोना। दिग-अम्बर—दिशाएँ (आकाश) ही जिसके वस्त्र हों, अर्थात् नग्न। स्थावर—स्थिर, न चलनेवाला। जंगम—चलने-फिरने वाला। मुक्त बुद्धि—शास्त्रों से स्वतंत्र रहकर सोचने वाला।

गेहूँ बनाम गुलाब

शरीर की आवश्यकता—भूख, प्यास, कामुकता आदि। मानसिक वृत्ति—सुरक्षा, आदर्शवादिता, सौन्दर्यानुभूति, रसात्मकता आदि। कोने में

डालना—उपेक्षा करना। तुरही—फूंक कर बजाने का एक पतले मुँह का बाजा जो दूसरे सिरे की ओर बराबर चौड़ा होता जाता है। उच्छ्वसित—प्रफुल्ल, पूरा खिला हुआ। समिधा—यज्ञ की लकड़ी। चिर बुभुक्षा—सदा रहने वाली भूख। यूटोपिया—अप्राप्य विचार, आदर्श का सिद्धान्त जो पूर्णता का प्रतीक हो पर हो काल्पनिक। हस्तामलकवत्—हाथ पर रखे आँवले की तरह, बिलकुल स्पष्ट। उर्ध्वगामी करना—ऊँचा उठाना, उच्चादर्शों की ओर मोड़ना। रम्भा—नल कुबेर की पत्नी जो इन्द्रलोक में अत्यन्त सुन्दरी मानी जाती है। मेनका—एक अप्सरा का नाम जिस पर विश्वामित्र मुग्ध हो गये थे, शकुन्तला की माता। उर्वशी—इन्द्रलोक की एक प्रसिद्ध अप्सरा जो पुरुरवा की पत्नी बनी। मित्र और वरुण भी उर्वशी पर मुग्ध हो गये थे। स्खलित हो गयी—भंग होकर नीचे गिर गयी। "शौके दीदार है, तो नजर पैदा कर"—यदि दर्शन करने का शौक है तो अनुकूल दृष्टि उत्पन्न कीजिए।

राष्ट्र का स्वरूप

परिधि—सीमा। वसुन्धरा—वसुओं अर्थात् अमूल्य निधियों को धारण करने वाली, पृथ्वी। अभ्युदय—उन्नति। अन्तराल—बीच। पुष्कल—प्रचुर या अधिक। समन्वय—भेदों की एकता। तादात्म्य—एकत्व समर्पण। विरहित—विहीन। अन्तर्निहित—भीतर छिपा हुआ। प्रतीक—संकेत चिह्न। नग—रत्न। निष्कारण धर्म—ऐसा धर्म जिसमें स्वार्थ की भावना नहीं रहती। संततवाही—सदा प्रवाहित, स्थायी। कबन्ध—सिर रहित धड़।

भाग्य और पुरुषार्थ

सर्वान्तर्यामी—सबके भीतर की बात जानने वाले। सार्वकालिक—सभी समय विद्यमान रहने वाला। संगति—औचित्य, सार्थकता। विदीर्ण—छिन्न-भिन्न कर देना, भेद देना। अहंता—अपने होने का बोध, अस्तित्व की चेतना। शून्यावस्था—अपने होने के बोध के अभाव की अवस्था। सप्रयास—प्रयास सहित, प्रयत्नशील। सहयुक्त—एक साथ जुड़ा हुआ, संलग्न। अकर्त्तृत्व—अपने को कर्त्ता समझने के अहंकार का अभाव, कर्त्तृत्व का अभाव। आत्मोत्सर्ग—आत्म त्याग। आत्म-विसर्जन—अहंता का त्याग, अहंकार की समाप्ति। आकांक्षा—इच्छा।

प्रशस्त—खुला और फैला हुआ। अवज्ञा—अवहेलना, उपेक्षा। प्रमाद—भूल, भ्रम। अस्तित्व सृष्टि की पूर्णता, संसार की समग्रता। त्रिकाल—भूत, भविष्य और वर्तमान। प्रणत—विनयपूर्वक, विनीत। परमार्थ—उच्चतम उद्देश्य, स्वार्थ से ऊपर उठकर लोकहित का ध्यान रखना। निवृत्ति—अलग होना, त्यागना। प्रवृत्ति—विषय में लीन होना, इच्छापूर्ति के लिए आसक्त होकर कार्य में लगना।

राबर्ट नर्सिंग होम में

परिचारक—रोग की अवस्था में सेवा करने वाला (लेखक इन्दौर में जिनका अतिथि था वे महिला बीमार हो गयी थीं। अतः उनकी परिचर्या में वहाँ रुकना पड़ा।) पैंतालिस वसन्त देखी—आयु पैंतालिस वर्ष के लगभग थी। अरुणोदय की रेखाओं से अनुरंजित—लालिमा युक्त। लंबा मुँह—उदास चेहरा। अधिनायक—शासक। चाँदनी चर्चित—अत्यन्त गौर वर्ण। बिना प्रसव किये माँ—मदर की उपाधि धारण करने वाली प्रौढ़ नर्स। योग-क्षेम—यहाँ आशय है साधारण जीवन निर्वाह का वेतन। दुहिता—पुत्री। नश्तर चुभाया—मर्म को टटोला। पूजा-गृहों—ईसाइयों के धार्मिक स्थानों। कामरूप—आसाम का पुराना नाम। कर्पूरिका—कपूर जैसे गौर वर्णवाली। देवदासी—मंदिरों में रहकर देव पूजा के लिए जीवन समर्पित करने वाली तरुणियाँ। भिक्षुणी और अर्जिका—बौद्ध तथा जैन साध्वी।

प्रणाम

लक्ष्य पथ पर हृदय के विश्राम चिह्न—माथे की रेखाएँ ऐसी लगती थी जैसे कि हृदय की अनुभूतियाँ, विचार की मंजिल तक पहुँचने के लिए मार्ग में रुक गयी हों क्योंकि हृदय और बुद्धि अर्थात् मस्तक के सहयोग से ही विचारों का निर्माण होता है। निमिष—पलक का उठना-गिरना, क्षण। उद्धत—अशालीन। उदासीन—मौन, तटस्थ। बिछलना—फिसलना। गर्व के प्रमाणपत्र—स्वाभिमान के सूचक। अन्तर—दूरी। आर्द्रता—कोमलता, स्नेह। निस्तब्धता—सन्नाटा, मौन (बातचीत और हँसी के बीच की चुप्पी)। परिवेश—परिस्थिति, वातावरण। कवि-कथा की संकेत लिपि—कवि की दिनचर्या का आभास। मानवी रंग—भावुकता, करुणा। लौहनिर्मित भीम—धृतराष्ट्र को अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन

की मृत्यु का भय भीम से ही था। अतः वह उसे मार डालने या मरवाने का उपाय सोचता था। इसका पता पाण्डवों को लग चुका था। अतः जब धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने उसकी लौह की मूर्ति बनवा दी थी। (महाभारत)। पार्थिव व्यक्तित्व—प्रत्यक्ष शरीर। हिरण्यगर्भा—सोना उगलने वाली। वायवी—हवाई, शून्य। स्थूल—यथार्थ रूप। संघर्ष सृजन की शपथ बन जाता है—उच्च कोटि का निर्माण या कला आदि को देखकर लोग ईर्ष्यावश उसे नष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। अनन्त अवतार—अनेक आकार। संघात—समूह, मिलीजुली रचना। कर्मनिष्ठ बलिदानी साधक—महात्मा गाँधी से आशय है। स्वस्तिवाचन—आशीर्वाद, शुभ कामना। विशाल शिव और सुन्दर सृजन हो सकता है—महान् को सब पूजते हैं पर दीन को महान् बना देने वाले और भी अधिक महान् होते हैं। प्रखर-विद्युत—प्रतिभा। आस्था की सजलता—मानव के प्रति प्रेम और करुणा। बादल भरी बिजली—करुणा और प्रतिभा। धर्म की सीमा छू गई—जब रवीन्द्र ने धर्म सम्बन्धी विचार प्रकट किये। मानवता के वैतालिक—मानवीय गुणों के गायक। जन तो बहुत ···नहीं मिला—सभी मनुष्यों में कोई न कोई महानता होती है। हीरा—अर्थात् मानव या मानव-आत्मा। जीवन-शिल्प की वर्णमाला—उच्च आचरण या उच्च व्यक्तित्व का प्रारंभिक परिचय। साधनों का हिमालय—बहुत सी सुविधाएँ। साधन शून्य रेगिस्तान—सुविधाओं से बिल्कुल रहित होना। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान······कुछ कहना ही व्यर्थ है—किसी व्यक्ति को सामने देखकर भी हम उतने ही तक अपने को सीमित नहीं रखते जो देख रहे हैं, बल्कि अनुमान और कल्पना के द्वारा उसके विषय में अपने ज्ञान का और भी विस्तार करते हैं। इस प्रकार उस वस्तु के प्रति हम एक विशिष्ट अनुभूति और दृष्टिकोण बनाते हैं। फिर, यदि वह व्यक्ति सामने नहीं है, तब तो उसकी वस्तुओं आदि को देखकर हम और भी स्वतंत्रतापूर्वक उसके सम्बन्ध में अनुमान और कल्पना के द्वारा अपना अभिमत बनाते हैं। लेखिका ने कवीन्द्र की आलमारी और उसकी वस्तुओं को देखकर यही किया।

कुटज

अन्तर्निरुद्ध सत्ता—भीतर दबा हुआ जीवन (चट्टानों के बीच में दबी हुई रेतीली जमीन)। रक्ताभ—लाल। द्वन्द्वातीत—सुख दुःख की भावना से मुक्त।

अतल गह्वर—गहरे गड्ढे। भोग्य—भोजन। कचारा-निचोड़ा—सारांश निकाला हुआ। पद—शब्द या नाम। यथार्थ—वस्तु या पदार्थ। विरुद—यश। स्तवक—गुच्छे। चारुस्मित—मधुर मुस्कान वाला। आषाढ़स्य प्रथम दिवसे—आषाढ़ के पहले दिन (दे० मेघदूत का पहला श्लोक)। अनत्युच्च—जो बहुत ऊँची न हो। अपराजेय-जीवन-शक्ति—प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हार न मानकर जीवित रहना। स्फोयमान—बढ़ती हुई। दुरन्त—असीम, अपार। हाब्स और हैल्वेशियस—पाश्चात्य देशों के समाज-शास्त्री। जिजीविषा—जीने की इच्छा। द्रवित-द्राक्षा—निचोड़ा हुआ अंगूर या किशमिश। अकुतोभया वृत्ति—किसी से भयभीत न होने का स्वभाव। रूप मुख्य है या नाम—वस्तु या व्यक्ति की पहिचान दो प्रकार से की जाती है—उसके रूप या आकृति द्वारा तथा उसके नाम के द्वारा। ये दो न हों तो व्यक्तियों और वस्तुओं को न तो अलग-अलग जाना जा सकता है और न ही उनसे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

अवशेष

अकबराबाद—आगरा का एक पुराना नाम जो सम्राट अकबर के नाम से सम्बद्ध है। स्मृतिलोक—यादों की दुनिया, स्मृतियाँ। चिरविरही प्रेमी—सदा वियोगावस्था में रहने वाला प्रेमी, शाहजहाँ का विशेषण। मरीचिमाली—सूर्य। प्रतीची—पश्चिम। पादप पुंज—वृक्षों का समूह। रत्न खचित—रत्नों से जड़े हुए। दिन गिना करना—समय बिताना। क़िले का वैराग्य—आगरा के लाल क़िले का स्वामी व संरक्षक अकबर था। उसकी मृत्यु के बाद क़िला सुनसान व वीरान हो गया। लेखक ने क़िले की इस दशा को वैराग्य कहा है और आगे यह भी कहा है कि क़िले ने स्वतः संन्यास ले लिया है। करुण-क्रंदन की प्रतिध्वनियाँ—दया उत्पन्न करने वाली रोने की आवाज की गूंज। बालुकामय शान्ति-जल-विहीन ऊसर—जहाँगीरी महल में प्रेममय वातावरण था। अब उस प्रेमरूपी जल का अभाव हो गया है अतः लेखक ने उसकी उपमा ऐसी ऊसर भूमि से दी है जो बालू से युक्त है किन्तु जिसमें शान्तिरूपी जल का अभाव है। गाइड—ऐतिहासिक स्थलों के विषय में शुल्क लेकर विवरण देने वाले राजनियुक्त पथ प्रदर्शक। रक्तिम—लाल। तमसावृत—अँधेरे से ढँका हुआ। दीन-ए-इलाही—सम्राट अकबर द्वारा प्रवर्तित एक धर्म जिसके सिद्धान्त सभी धर्मों के उपयोगी और समन्वयात्मक विचारों पर आधारित थे। यह धर्म लोकप्रिय नहीं हो सका और

बाद में बिलकुल समाप्त हो गया। मिट्टी के दीपक रूपी हृदय में अगाध मानव स्नेह भरा है—अकबर के हृदय की तुलना मिट्टी के दीपक से की गयी है। जिस प्रकार अकबर का हृदय अपार मानव प्रेम से भरा था उसी प्रकार सिकन्दरा में अकबर की समाधि के ऊपर रखे दीपक में अथाह तेल भरा है। स्नेह शब्द में यहाँ श्लेष अलंकार है।

सन्नाटा

आत्यन्तिक—अत्यन्त की पराकाष्ठा अर्थात् बहुत अधिक। **रवहीनता**—स्वरहीनता, आवाज से रहित होना। **शब्द का ही एक गुण है**—आवाज के एक पक्ष को प्रकट करने वाला है, वह मौन का स्वर है। **निस्तब्धता की गति है**—सन्नाटे में ऐसा लगता है जैसे कि मौन बोल रहा है और खामोशी चल रही है। **स्वर के क्षेत्र''''''''लक्ष्य होता है**—जिस प्रकार ध्वनि के क्षेत्र में (जो कानों का गुण है) हम ध्वनि-हीनता को सन्नाटा कहते हैं उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों अर्थात् आँख, नाक, जीभ और त्वचा के क्षेत्र में भी ऐसी नकारात्मक स्थितियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए जिस के क्षेत्र में हम फीकेपन का अर्थ लेते हैं स्वादहीनता पर वास्तव में कोई वस्तु पूर्णतः स्वादहीन नहीं होती। **उपकरण**—साधन। **ध्वन्यनुसारी**—ध्वनि के अनुकरण पर बनने वाले। **महाप्राण उच्चारण**—जिन व्यंजनों वर्णों के उच्चारण में "ह्" की ध्वनि मिली रहती है जैसे ख, घ, छ, झ इत्यादि। **विस्फोटित**—फूटकर या ओठ से निकल कर। **स्थिति वैचित्र्य**—स्थिति की विचित्रता या विशेषता। **व्यक्ति वैचित्र्य**—व्यक्ति की विशेषता या विचित्रता। **आकुल अनवरत रक्त प्रवाह की गूँज**—लेखक का विचार है कि सन्नाटे की साँय-साँय मनुष्य के अपने भीतर के निरन्तर प्रवाहित होने वाले रक्त की आवाज होती है। **व्युत्पत्ति**—शब्द के मूल रूप का अनुसंधान करके उसका अर्थ निकालना। **रूमानी**—कल्पना के रंग में रंगी हुई। **प्रतीक**—संकेत। **संवेदनाओं**—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूतियों। **आर्ष प्रयोग**—ऋषियों द्वारा किया गया प्रयोग। **भावन**—अनुभव। **द्रव**—तरल पदार्थ। **झाँय-झाँय**—तर्क-वितर्क, झगड़ा।

आलोचक की आस्था

प्रबुद्ध—जागरूक, सक्रिय। **ललित साहित्य**—आनन्दप्रद या रसात्मक

साहित्य, जिसमें लेखक की सृजन-प्रतिभा विशेष रूप से प्रकट होती है। आत्माभिव्यक्ति—लेखक की अनुभूतियाँ एवं व्यक्तित्व का प्रकाशन। परिणति—परिणाम या फल। अभिषेक—सिंचन। अभिन्न—एकाकार, समान। क्रोचे—इटली का एक विद्वान् आलोचक प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री। मूर्त्तरूप—शब्दों या चित्र में प्रकट की गयी अनुभूति। विदग्धों—विद्वानों। भोक्ता और कर्त्ता—पाठक और कवि। पुनःसृजन—कल्पना शक्ति के द्वारा नवीन रूप में प्रकट करना। बलाबल—अधिकता या न्यूनता। पदार्थ—वस्तु। बिम्ब—शब्द चित्र। ऐन्द्रिय-मानसिक बिम्ब—आँख, नाक आदि इन्द्रियों और मन के द्वारा अनुभव किये जाने वाले शब्दचित्र। प्रज्ञात्मक—बौद्धिक। सर्जनात्मक संदर्शन—रचनात्मक अनुभूति या कल्पना शक्ति। तात्त्विक—तत्त्वों या लक्षणों को सूचित करने वाला। सात्त्विक—वास्तविक, उत्तम, हितकारी। आस्वाद—साहित्यिक रचना को पढ़कर आनन्द प्राप्त करना। आस्वाद्यत्व—रसात्मकता। आख्यान—व्याख्या या विवेचन। मूल्यांकन—सामाजिक उपयोगिता। नियमन—नियंत्रण या दिशा दिखलाना। शक्ति की स्पृहा—प्रभाव जमाने की इच्छा। मताग्रह—निजी सिद्धान्तों का अनुरोध। विगलन—गलना, समाप्त होना। अभिधार्थ—शब्दों का सीधा अर्थ। प्रज्ञा—बुद्धि। संघात और प्रतिघात—तर्क और गुण-दोष विवेचन। मेधा की चट्टान—प्रखर बुद्धि। शाण रखना—धार रखना, तीव्र बनाना। स्थायी मूल्य—व्यापक और चिरकाल तक रहने वाला महत्त्व। लक्षित—प्रकट। स्पृहा—आकांक्षा। काम्य—इच्छित, अभीष्ट।

भाषा और आधुनिकता

रमणीयता—सुन्दरता। सामाजिक भाव-प्रकटीकरण—सामाजिकता के भाव को प्रकट करना। तकनीकी शब्दावली आयोग—यह नई दिल्ली में है। भारत सरकार ने शिक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत सन् १९५० में इसकी स्थापना की थी। प्राण तत्त्व—आत्मा। दुरूहता—अस्पष्टता। उद्दिष्ट—उद्देश्य रखने वाली। संश्लिष्टताओं—सूक्ष्म विशेषताओं। परिहार—निराकरण, निवारण। स्वतःसिद्ध—अपने आप प्रकट होने वाली। निःसृत—निकलना, उत्पन्न होना। ऐच्छिक—स्वावलम्बी, स्वयं स्थापित की गयी, आत्म निर्भर।

निन्दा रस

साइक्लोन—चक्रवात, तेज और धूलभरी चक्कर काटती हुई आँधी।

धृतराष्ट्र की जकड़—जन्मांध धृतराष्ट्र की भुजाओं में बड़ी शक्ति थी। महाभारत युद्ध के अन्त में दुर्योधन को भीम ने मार डाला। पुत्र की मृत्यु से धृतराष्ट्र के मन में भीम से बदला लेने की इच्छा जागी और प्रकट रूप में भीम को गले लगाने की बात कही। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के मन्तव्य को ताड़ गये और उन्होंने भीम के लोहे के पुतले को आगे करके कहा कि भीम खड़े हैं। धृतराष्ट्र ने आलिंगन में पुतले को इतने जोर से दबाया कि लोहे का पुतला चूर-चूर हो गया। नागफनी—कँटीला पौधा, एक विशेष प्रकार का कैक्टस। धराशायी करना—पराजित करना, जमीन पर लिटाना। केटलाग—सूची। आँगन कुटी छवाय—यहाँ पर निन्दकों के सम्बन्ध में कबीर के निम्नलिखित दोहे की ओर संकेत है :—

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन पानी बिना, निरमल करे सुभाय॥

मिशनरी—लगन, तत्परता एवं 'कार्य के लिए कार्य' की भावना की ओर संकेत। ईसाई पादरियों की संस्था में इसी भावना से काम होता है और इस संस्था को 'मिशनरी' कहते हैं। ट्रेड यूनियन—श्रमिकों का संगठन जो उनके हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। बहुजन हिताय—अधिकाधिक व्यक्तियों की भलाई के लिए।

आखिरी चट्टान

समाधि—योग का आठवाँ अंग, वह दशा जिसमें योगी सारे द्वंद्वों से ऊपर उठकर आत्मलीन हो जाता है। विवेकानन्द—(सन् १८६३-१९०२) रामकृष्ण परमहंस के शिष्य। प्रकांड विद्वान् और कुशल वक्ता। आपने अमेरिका में आयोजित विश्वधर्मसभा में अपने वक्तव्य से श्रोताओं को मुग्ध कर लिया था। मोक्ष—मुक्ति, जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा। सैण्डहिल—बालू का ऊँचा टीला। कैनवस—खुला चित्रपट। शृंखला—कड़ी, सिलसिला। लावा—ज्वालामुखी पर्वत से निकलने वाला द्रव पदार्थ। बेंजनी—हलके नीले रंगवाला। कन्याकुमारी—दक्षिण भारत की स्थल सीमा बनाने वाला अंतरीप, दुर्गा का एक नाम।

हिमालय

एकनिष्ठ—एक के ही ऊपर निष्ठा रखने वाला। शुचिता—पवित्रता, निर्मलता। मुक्तहस्त—जिसका हाथ खुला हो, दानी, उदार। उद्भूत—प्रकट

हुआ, उत्पन्न। आप्यायित—तृप्त। गैरिक—गेरू। रागों—रंगों। उच्छल—उछलने वाला। ऋजु दृष्टि—सरल या कुटिलतारहित दृष्टि। जगद्धात्री—जगत् की रक्षा करने वाली। गजाजिन—गज की खाल। भक्तिविगलित—भक्ति से प्रवाहित।